जैन भारती

दिसंबर, 2009 • वर्ष 57 • अंक 12 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

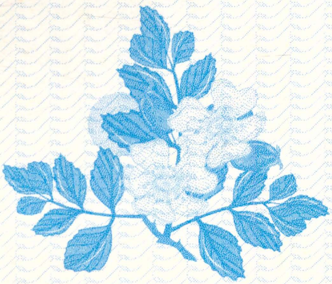

स्वरूप चन्द बरड़िया

दिल्ली-सरदारशहर

मो. : 09868099963

SHREE SADAN

12/3, East Punjabi Bag

New Delhi 110026

Phone Off. : 011-2592-7592
Resi. : 4540-5934/4246-0905
Fax : 4101-2191

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 अंक 12

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
धर्म : शरणातीत अवस्था

14
साध्वी पुण्ययशा
नमस्कार महामंत्र और मनोविज्ञान

20
दान : एक अनुशीलन
मुनि विनोदकुमार 'विवेक'

अनुभूति

27
युवाचार्यश्री महाश्रमण
कर्म निर्जरा : आत्मा की निर्मलता के लिए

30
साध्वी मुदितयशा
ऋषिराय : जीवन की पोथी में गंभीरता, सूझ-बूझ और साहस का दर्शन

36
मुजफ्फर हुसैन
अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह : एक संजीवनी

38
कहानी
रघुवीर सहाय
ग्यारहवीं कहानी

44
कविता
वंशी माहेश्वरी की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
जीवन का अर्थशास्त्र

शीलन

47
डा. सूरज राव
हिंसा तत्त्व और भाषा संस्कार : एक विवेचन

50
समणी सत्यप्रज्ञा
ज्ञातधर्मकथा—विश्वास एवं मान्यताएं

54
साध्वी जगवत्सला
युद्ध : परम-विजय के लिए

56
बालकथा
समणी आगमप्रज्ञा
संसार संगति का

●
आवरण
कमल श्रीमाली

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

पौषध में प्रतिलेखन क्यों?

पौषध में कोई श्रावक वस्त्र अधिक रखता है, कोई कम रखता है। जो अधिक रखता है, उसके अधिक अव्रत; जो कम रखता है, उसके कम अव्रत। तब कोई प्रश्न करता है—'यदि कोई पौषध में प्रतिलेखन न करे, तो उसे प्रायश्चित क्यों दिया जाए?'

तब स्वामीजी बोले—'पौषध में अप्रतिलेखित वस्त्रों (जिन वस्त्रों की प्रतिलेखना न की हो) को भोगने का त्याग होता है। उसने प्रतिलेखना नहीं की और उन्हें काम में लेता है, इसलिए उसके त्याग का भंग होता है। उसका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पौषध में भी शरीर अव्रत में है। उस शरीर की सुख-सुविधा के लिए वस्त्रों को इधर-उधर करता है, उनका प्रमार्जन करता है, वह सावद्य है।

'पौषध के समय जो वस्त्र अपने पास रखे, उनका न तो प्रतिलेखन करता है और न उन्हें काम में लेता है, तो उसे विशेष कठिनाई को सहनी होती है। उससे पौषध और अधिक पुष्ट होता है। कष्ट सहने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए वस्त्रों का प्रतिलेखन कर उनको काम में लेता है।

'जैसे किसी व्यक्ति को अनछना जल पीने का त्याग है। वह जल को छानता है, पीने के लिए छानता है, दया के लिए नहीं छानता है। यदि वह नहीं छानता है, तो दया और अधिक पुष्ट होती है।'

'वह कैसे?'

'यदि वह नहीं छानता है, तो पी नहीं सकता, क्योंकि उसे अनछना जल पीने का त्याग है। अनछने जल पीने का त्याग है, इसलिए यदि वह जल नहीं छानेगा, तो जल पी नहीं सकेगा। इस दृष्टि से वह जल को छानता है, वह अपनी अव्रत (छूट) का उपभोग करने के लिए छानता है। उसमें धर्म नहीं है।'

शब्द कोमल और कठोर, दोनों प्रकार के होते हैं। हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि कुछ शब्द व्यक्ति को कर्णप्रिय लगते हैं, तो कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं—जो सर्वथा कर्णकटु होते हैं। बोलता कौआ भी है, बोलती कोयल भी है। पर, दोनों के शब्दों में रात-दिन का अंतर है। कोयल की बोली सुनते-सुनते मन कभी अघाता नहीं, बल्कि कहना चाहिए कि उसे बार-बार सुनने की इच्छा होती है। इसके विपरीत यदि कौए की बोली जरा भी कान में पड़ जाती है तो मन में आता है कि यह न बोले तो अच्छा। यह अंतर और कुछ नहीं—मात्र मधुर और कर्कश शब्द-पुद्गलों का है। कवि ने कितना सुंदर कहा है—

कागा कासे लेत है, कोयल काको देत।
मीठे शब्द-प्रयोग से, जग अपनो कर लेत।।

मैं मानता हूं कि शब्दों का प्रयोग करना एक बहुत बड़ी कला है। इसका परिणाम बहुत गहरा होता है। जहां मधुर भाषण से व्यक्ति लोगों का मन जीत लेता है, वहीं कटु शब्दों के प्रयोग के कारण वह अपने दुश्मन या विरोधी खड़े कर लेता है।

मनुष्य की यह सहज मनोवृत्ति होती है कि वह मधुर शब्द सुनना चाहता है। कटु शब्द उसे अप्रिय लगते हैं। मैं तो मानता हूं कि व्यावहारिक जीवन की सफलता का एक बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मधुर भाषण। कहा तो यहां तक गया है—**सत्यं ब्रूयात, प्रियं ब्रूयात; न ब्रूयात सत्यम प्रियम्**—अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, पर ऐसा सत्य भी मत बोलो, जो अप्रिय हो।

—आचार्यश्री तुलसी

व्यक्तित्व विकास के लिए आत्मनिरीक्षण अत्यंत आवश्यक है। किसी एक दिन या विशेष पर्व पर ही नहीं, अपितु प्रतिदिन के लिए करणीय है। कहा भी गया है—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं, किमद्य सुकृतं कृतम्।
आयुषः खण्डमादाय, रविरस्तमयं गतः।।

व्यक्ति सुबह उठने से लेकर रात्रि में शयनकाल तक का आत्मप्रतिलेखन करे कि आज मैंने कोई पवित्र कार्य किया या नहीं? यह जीवन क्षणिक है। आयुष्य प्रतिदिन घट रहा है। सूर्य प्रतिदिन आयुष्य का एक खंड लेकर अस्त होता है। ऐसी स्थिति में जीवन का सुखद सहयात्री यदि कोई है, तो वह सुकृत का उपार्जन ही है। जो व्यक्ति अपने जीवन में सुकृत का अर्जन करता है वही वास्तव में अपने जीवन को सफल बना सकता है।

जिस व्यक्ति की चेतना आत्मदर्शन की ओर अग्रसर हो जाती है, उसके परदोष-दर्शन के संस्कार स्वतः छूट जाते हैं। वह विधायक भावों में रमण करने लगता है और अपने जीवन को सही दिशा की ओर मोड़ता हुआ औरों के लिए भी आदर्श बन जाता है। अपेक्षा है कि आत्मदर्शन की वृत्ति जाग्रत हो।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

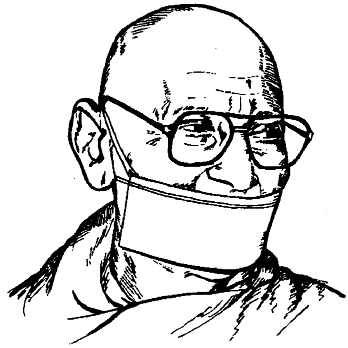

अध्यात्म की साधना एक निरालंब मार्ग है। अध्यात्म स्वयं ही निरालंब है। वहां किसी आलंबन या सहारे की जरूरत नहीं है। किंतु अध्यात्म तक पहुंचने के लिए आलंबन आवश्यक है, सहारा खोजना होता है। अध्यात्म की यात्रा करने वालों ने, मन पर अनुशासन करने वालों ने, आलंबनों को खोजा है। अध्यात्म के साधकों ने नाना आलंबनों की शरण ली है। आलंबनों के बिना वहां नहीं पहुंचा जा सकता। अतः बहुत जरूरी है आलंबन। इसीलिए उन्होंने छोटे-बड़े—सभी आलंबनों की एक शृंखला बनाई। जयाचार्यश्री ने आलंबनों की एक पूरी सूची प्रस्तुत की है। निरालंब तक पहुंचने में जिन आलंबनों की अपेक्षा है—उनमें संयम, तप, जप, शील, स्वाध्याय, अनित्य-अनुप्रेक्षा, अशरण-अनुप्रेक्षा, अनंत-अनुप्रेक्षा और निर्मल ध्यान—ये मुख्य हैं। इन आलंबनों का उपयोग किए बिना कोई भी साधक निरालंब तक नहीं पहुंच सकता। अशुद्ध आलंबनों को छोड़ कर शुद्ध आलंबनों को स्वीकार करना—यह प्रथम नियम है। वासना अशुद्ध आलंबन है। चेतना शुद्ध आलंबन है।

शरीर के दो छोर हैं। एक है—कामना का और दूसरा है—चेतना का। कामना चेतना से भिन्न नहीं है, किंतु वहां चेतना गौण हो जाती है और कामना प्रधान बन जाती है। इसलिए वह कामना या वासना का छोर है। दूसरा छोर है—चेतना का। योगशास्त्र में शरीर को चेतना की दृष्टि से दो भागों में बांटा गया। (1) नीचे का भाग—जिसे मूलाधार या शक्तिकेंद्र कहा जाता है। यह कामना या वासना का केंद्र है। (2) ऊपर का भाग—सिर का भाग। ज्ञानकेंद्र। यह चेतना का केंद्र है।

अशुद्ध आलंबनों को छोड़ना और शुद्ध आलंबनों का सहारा लेना—यह ध्यान की प्रक्रिया का मूल है। इसका तात्पर्य है कि कामकेंद्र की ओर प्रवाहित होने वाली चेतना को ऊपर उठा कर ज्ञानकेंद्र में ले जाना। नीचे के प्रवाह को बदल कर, उसको ऊपर की ओर मोड़ देना। यह शुद्ध आलंबन की स्वीकृति है। यह प्रयत्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। इस प्रयत्न से सारी वृत्तियों का परिष्कार होता है।

चेतना के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया है—ध्यान। चेतना नीचे से हट कर ऊपर की ओर जाती है। इस प्रक्रिया में आलंबन है—संयम। संयम के बिना ऊपर नहीं जाया जा सकता। हम नाभि पर ध्यान करते हैं, यह हमारा संयम है। हम आनंद केंद्र पर ध्यान करते हैं, यह हमारा संयम है। सब वृत्तियों से चित्त को हटा कर किसी एक पुद्गल या परमाणु पर उसे केंद्रित कर देना संयम है। ध्यान में इंद्रिय-संयम परम आवश्यक तत्त्व है। ध्यान करने बैठें और चारों ओर झांकते रहें—तो ध्यान कैसे होगा? ध्यान-काल में बाहरी आवाजों को सुनने के लिए उत्सुक रहे तो कभी ध्यान नहीं हो सकता। चित्त को केंद्रित करने के लिए इंद्रिय-संयम बहुत आवश्यक है।

—**आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

प्रसंग

जीवन का अर्थशास्त्र

हम चाहें तो 'जीवन का शास्त्र' भर कह कर अपने मंतव्य को पूरा कर सकते हैं, पर तब शायद यह माना जा सकता है कि यह समग्र जीव-जगत के लिए न होकर एक 'व्यक्ति-इकाई' भर के लिए कही गई बात हो। हां! हमारा मंतव्य फिलहाल 'व्यक्ति-इकाई' न होकर समग्र व्यवस्था है और इसीलिए इस 'प्रसंग' में 'जीवन का अर्थशास्त्र' पर हम थोड़ी चर्चा करते हैं। अलबत्ता समग्र व्यवस्था की बात होते हुए भी उसके केंद्र में 'व्यक्ति-इकाई' प्रमुखतः रहता ही है, लेकिन 'व्यक्ति-इकाई' भी एकाकी रह कर किसी भी सूरत में टिका नहीं रह सकता है। वह भी संपूर्ण जीव-जगत पर अवलंबित है। अतः इसके अस्तित्व को नकार कर अथवा उपेक्षित रख कर कुछ भी सोचना, एक अधकचरा सोच ही कहा जा सकता है। हमारे एक प्रमुख सूक्त—'परस्परोपग्रहो जीवानाम'—का यहां स्मरण हो रहा है, जो उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है।

इस दृष्टि से 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र'—ग्रंथ हमारे सम्मुख एक मानक की माफिक है। यह ग्रंथ किसी भी तरह की अकादमिक स्थापनाएं नहीं करता, अपितु एक संपूर्ण व्यवस्था को परिभाषित और व्याख्यायित करता है और एक तरह का जीवन शास्त्र ही इस ग्रंथ में खुलता चला जाता है। इसीलिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र हमारी अकादमिक संस्थाओं तथा शोधार्थियों के लिए आज भी अनुसंधान का विषय बना हुआ है। इस पर अनेक भाष्य, टीकाएं तथा विवेचनाएं देखने को मिलती हैं, फिर भी समाज-शास्त्रियों, राजनीति-शास्त्रियों और नव-शोधार्थियों के लिए यह ग्रंथ आकर्षण बना हुआ है। मुझे लगता है कि गहन मंथन की इस दृष्टि से आवश्यकता है कि कैसे इसमें कही बातें हमारे व्यावहारिक जीवन का अंग बनें। सरसरी निगाह भी डालें तो यह ग्रंथ वैचारिक और अकादमिक विमर्श से भी कहीं अधिक सुशासन और राजधर्म का सविनय निर्वाह करने के लिए दिशा दिखाता हुआ नजर आता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में हमारे सम्मुख आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' की अवधारणाएं हैं। यद्यपि यह शास्त्र अभी गढ़ा ही जा रहा है और हमें अपेक्षित अवकाश इसे देना ही चाहिए, पर इस 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' से इतनी अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि यह शास्त्र मात्र अकादमिक बहसों तक सीमित नहीं रह कर व्यावहारिक जीवन की जटिलताओं को सुलझाने वाला सरल शास्त्र—'जीवन का अर्थशास्त्र' बने। कह सकते हैं कि आज के आधुनिक समाज के लिए 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' एक तरह से कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अगला पड़ाव साबित हो। जो टिप्पणियां सापेक्ष अर्थशास्त्र को लेकर अब तक सामने आई हैं और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जो अवधारणाएं रखी हैं—उससे यह माना जा सकता है।

सापेक्षता का अर्थ ही 'परस्परोपग्रहो' है। एक-दूसरे की आवश्यकता या अपेक्षा पर जो खरा उतर जाए, वही सापेक्षता का सिद्धांत है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए सापेक्षता को महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण मानते हैं। वे मानते हैं कि इसी के आधार पर प्रत्येक द्रव्य को जुड़ा हुआ जाना जा सकता है। वे कहते हैं कि—'सब पदार्थ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो एक-दूसरे से कटा हुआ हो।' जैन दर्शन का उल्लेख करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'जैन दर्शन ने एक सिद्धांत प्रतिपादित किया—**जे एगं जाणइ, से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ, से एगं जाणइ**—जो एक को जानता है, वह सबको जानता है, जो सब को जान सकता है, वही एक को जान सकता है।' अतः सापेक्षता को हम—'परस्परोपग्रहो'—कह सकते हैं।

आज जलवायु परिवर्तन, वायु प्रदूषण और नागरिक सेहत से लेकर उदारीकरण, भूमंडलीकरण, आतंक तथा हिंसा और सामाजिक-आर्थिक असंतुलन जैसी विषम स्थितियों से संपूर्ण विश्व आक्रांत है। जहां कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी है और सापेक्ष अर्थशास्त्र को गढ़ने की दिशा में भी हम अग्रसर हैं, वह भारत जैसा देश आज आर्थिक विकास की रफ्तार में भूमंडलीकरण तथा उदारीकरण के द्वंद्व में डूबा हुआ है। यही नहीं, पर्यावरण संबंधी जागरूकता में अग्रणी लोगों के लिए जब यह कहा जाता रहा है कि ऐसे लोग आर्थिक विकास की रफ्तार में बाधक हैं—वहां यह जरूरी है कि सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणाएं सामने आएं और ये अवधारणाएं हमारे व्यावहारिक जीवन का अंग बनें।

जैन भारती के दिसंबर 2008 के अंक में इसी 'प्रसंग' में हमने 'अहिंसा का अर्थशास्त्र' पर चर्चा की थी। यदि हम अहिंसा का अर्थशास्त्र (दिसंबर, 2008) और जीवन का अर्थशास्त्र एक साथ सामने रख कर देखेंगे तो मानेंगे कि यह एक-दूसरे के पूरक या विस्तार ही हैं। अतः यह जरूरी हो जाता है कि एक समग्र दृष्टि रख कर हम इन बिंदुओं पर विचार करें। निश्चय ही हम इसमें विचार और क्रिया का सम्मिलित रूप झलकता पाएंगे और यह आवश्यक भी है। -

अब यह तो संभव प्रतीत नहीं होता कि भूमंडलीकरण या उदारवाद से मुक्त हुआ जा सके। पर, इनके चलते यदि भारत के 83.6 करोड़ लोग प्रतिदिन बीस रुपये में ही जीवन निर्वाह करने को अभिशप्त हों—तो यह भी कैसे चल सकता है? पिछले कुछ समय से महंगाई में हो रही बेतहाशा बढ़ोतरी और उसी के साथ चल रहा उदारीकरण का दौर क्या किसी दरवाजे पर रोका जा सकता है? दरअसल इस महंगाई की वास्तविक मार आम जनता पर ही पड़ रही है और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ठीक ही सोचते हैं कि संपन्न (या कि प्रभुवर्ग) वर्ग एक साल के लिए निर्धनों की अवस्था में आकर अनुभव तो करें कि किस तरह इन हालातों में वे अपना जीवन बसर कर रहे हैं?

पर, यह केवल अनुभव करने भर की बात नहीं है। मसला यह है कि उदारीकरण और भूमंडलीकरण, उन्नत प्रौद्योगिकी और उससे निकले विकास का मर्म आम आदमी समझे और इनसे पैदा होने वाले असंतुलन को समाप्त करने की दिशा में कदम उठे। अगर किसी शास्त्र से विषमताओं के विष बीज बेअसर हो सकते हैं, तो ही वह सापेक्षता के सिद्धांत पर खरा उतर सकता है और उसे 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' माना जा सकता है। तब वह केवल किसी एक विधा का शास्त्र नहीं होगा, अपितु संपूर्णता के सिद्धांत पर गढ़ा 'शास्त्र' होगा। सापेक्षता का अवलंबन ही उसकी धुरी होगा।

यहां कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पुनः जिक्र स्वाभाविक है। क्योंकि यह ग्रंथ अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि 'राजधर्म' के निर्वाह की संपूर्ण बात कहने वाला एक ग्रंथ है। भारतरत्न डा. पांडुरंग वामन काणे ने अपने ग्रंथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (प्रथम भाग) में सही ही कहा है कि—'यह ग्रंथ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन पर इतना मूल्यवान प्रकाश डालता है और इतने विषयों का प्रतिपादन इसमें हुआ है कि थोड़े में बहुत कुछ कह देना संभव नहीं है।'—अलबत्ता डा. वामन काणे ने कुछ रोशनी डाली है, जो हमारा मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इसके अध्ययन की अब वर्तमान परिप्रेक्ष्य के साथ ही आवश्यकता है। हमारे समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीति शास्त्र के अध्येताओं के लिए 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' एक चुनौती है और यदि इसके सापेक्षिक अर्थ सामने आ जाएं तो यह इस ग्रंथ का पुनराविष्कार ही होगा।

यही 'जीवन का अर्थशास्त्र' हो सकेगा और इसी से 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' की पूर्णाहुति सुनिश्चित हो सकती है।

—शुभू पटवा

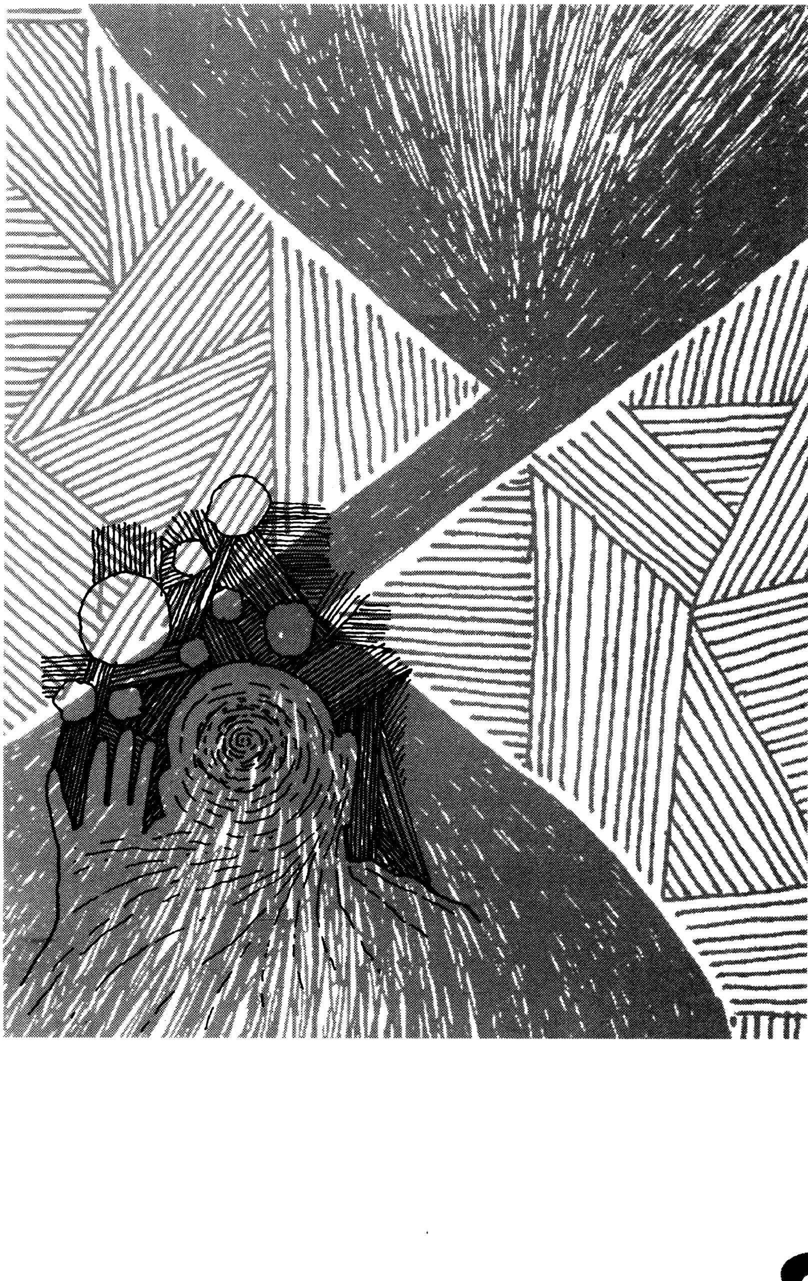

विमर्श

समाज़ीकरण के लिए व्यक्ति का कितना और कैसा विसर्जन आवश्यक है, इस सवाल की परवाह ऐसे शिक्षाशास्त्री नहीं करते जो व्यक्ति और समाज की पारस्परिक अपेक्षाओं को परस्पर विरोधी मानते हैं। उनकी तर्क प्रक्रिया कुछ इस तरह होती है कि चूंकि व्यक्तित्व एक सामाजिक उपलब्धि है, इसलिए उसके विकास की प्रक्रिया अधिकतम सामाजिक नियंत्रण में संपन्न होनी चाहिए। वे या तो भूल जाते हैं, या जानते नहीं कि व्यक्ति एक जड़ इकाई नहीं होता। वह उस संरचना का एक जीवित अंग होता है, जिसे वह अपने चारों ओर पाता है। वह हर समय—यहां तक कि सोते समय भी—इस संरचना के और अपने बीच अधिकाधिक संतुलन स्थापित कर रहा होता है। उसकी इस कोशिश से ही समाज में व्यवस्था जन्म लेती है। आदेशों के सहारे भी एक प्रकार की व्यवस्था पैदा की जा सकती है; पर वह मूलतः राजनीतिक वर्चस्व की पोषक होती है, समाज की पोषक नहीं।

—कृष्ण कुमार

जिसके पास क्षमा का कवच है और सहिष्णुता की शक्ति जिसने विकसित कर ली, वह अशरण हो गया। उसे किसी की शरण में जाने की जरूरत नहीं। लेकिन, सहन करने की शक्ति को विकसित करना सरल कार्य नहीं है। धैर्य और सहिष्णुता—इन दोनों की मात्रा आदमी में कम होती जा रही है। स्थानांग सूत्र में कहा गया—जुद्धसूरे वासुदेवे—युद्ध में वासुदेव सबसे ज्यादा पराक्रमी होते हैं। फिर कहा गया—तवसूरा अणगारा—तपस्या में शूर और पराक्रमी है—अणगार और खंतिसूरा अरहंता क्षमा करने में शूर हैं—अरिहंत-तीर्थंकर, अर्हत या वीतराग। अर्हत क्षमा की मूर्ति होते हैं।

हम सहन करना सीखें। क्षमा, मृदुता, सरलता और संतोष—ये चार ऐसे गुण हैं कि इन चारों का जिनमें विकास हो जाता है, उन्हें फिर कोई डर नहीं रहता। जिसका व्यवहार मृदु है, जो निश्छल है, सरल है, माया-कपट का जाल नहीं बुनता—उसे डर नहीं रहता। जिसमें संतोष है, उसे भी किसी बात का डर नहीं रहता। संतोष आदमी को अभय बना देता है।

❑

धर्म : शरणातीत अवस्था

❑❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हम अर्हत को इसलिए नमस्कार करते हैं कि वे किसी दूसरे की शरण की खोज में नहीं हैं। वे शरण से ऊपर हैं। उन्हें किसी दूसरे की शरण की जरूरत नहीं है। वह अवस्था कितनी पवित्र होती है, जहां किसी की शरण की आवश्यकता नहीं होती। एक छोटे बच्चे के लिए मां की शरण जरूरी हो जाती है। बड़े हो जाने पर मकान और दुकान की शरण जरूरी हो जाती है। रोगी को डाक्टर की शरण लेनी पड़ती है। जरूरतमंद को साहूकार की शरण लेनी पड़ती है। संपत्ति की सुरक्षा के लिए राजतंत्र की शरण लेनी पड़ती है। सब को किसी-न-किसी की मदद या शरण की जरूरत पड़ती है, लेकिन जिन्हें किसी की शरण की जरूरत नहीं, उनका नाम है—अर्हत।

शरण की जरूरत उसे नहीं पड़ती, जो अभय है। भय के साथ शरण की जरूरत जुड़ी हुई है। मुश्किल यह है कि आदमी अभय हो नहीं सकता। जहां परिग्रह है, मूर्च्छा है, पदार्थ है—वहां कोई अभय हो नहीं सकता। भोग और भय, त्याग और अभय—इनका परस्पर गहरा संबंध है। जहां भोग है, वहां भय अनिवार्य रूप से बना रहेगा। जहां परिग्रह है, वहां भय बना रहेगा।

पदार्थ और धन के साथ मूर्च्छा और भय जुड़े हुए हैं। जैन आचार्यों ने बारह अनुप्रेक्षाओं का विधान किया है। वे अनुप्रेक्षाएं केवल आत्मशुद्धि के लिए ही नहीं, मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी जरूरी हैं। रोग को मिटाने के लिए भी जरूरी हैं और रोग न हो, उसके लिए भी जरूरी हैं।

बारह अनुप्रेक्षाओं में एक है—अनित्य अनुप्रेक्षा और दूसरी है—अशरण अनुप्रेक्षा। अशरण अनुप्रेक्षा यह बताती है कि तुम बाहर शरण खोज रहे हो, लेकिन बाहर तुम्हें कोई शरण देने वाला नहीं है। शरण की खोज करो तो अपने

भीतर करो। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे लिए शरण है। हम इस पर विचार करें कि आत्मा शरण कैसे है?

आत्मा की दो अवस्थाएं हैं—क्रोध और क्षमा। क्रोध की अवस्था में शरण की जरूरत पड़ती है। क्रोध करने वालों को यह जान लेना चाहिए कि क्रोध केवल कलह ही पैदा नहीं करता, वह शरीर को बीमार भी बनाता है। क्रोध का सीधा असर हृदय पर पड़ता है। रक्तचाप बढ़ जाता है, पाचन-शक्ति खराब हो जाती है। शरीर की सारी स्वाभाविक क्रियाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। क्रोध शरीर को भी बीमार बनाता है और मन को भी बीमार बनाता है। पारिवारिक और मानवीय संबंधों में कलुषता घोलता है। ऐसी अवस्था में शरण खोजनी पड़ती है।

जिसमें क्षमा विद्यमान है, वह अभय होगा और उसे किसी की शरण की जरूरत नहीं होगी। हाथ में नंगी तलवार लिए हुए सिकंदर ने जब साधु से पूछा कि जानते हो, मैं कौन हूं? तो साधु ने कहा—'मुझे जानने की क्या जरूरत है।'—सिकंदर ने स्वयं ही अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं विश्वविजयी सम्राट सिकंदर हूं।'—सिकंदर और साधु के बीच में सवाल-जवाब हुए और साधु ने अपने प्रश्न से सिकंदर को निरुत्तर कर दिया।

जिसके पास क्षमा का कवच है और सहिष्णुता की शक्ति जिसने विकसित कर ली, वह अशरण हो गया। उसे किसी की शरण में जाने की जरूरत नहीं। लेकिन, सहन करने की शक्ति को विकसित करना सरल कार्य नहीं है। धैर्य और सहिष्णुता—इन दोनों की मात्रा आदमी में कम होती जा रही है। स्थानांग सूत्र में कहा गया—**जुद्धसूरे वासुदेव**—युद्ध में वासुदेव सबसे ज्यादा पराक्रमी होते हैं। फिर कहा गया—**तवसूरा अणगारा**—तपस्या में शूर और पराक्रमी है—अणगार और **खंतिसूरा अरहंता** क्षमा करने में शूर हैं—अरिहंत-तीर्थंकर, अर्हत या वीतराग। अर्हत क्षमा की मूर्ति होते हैं।

हम सहन करना सीखें। क्षमा, मृदुता, सरलता और संतोष—ये चार ऐसे गुण हैं कि इन चारों का जिनमें विकास हो जाता है, उन्हें फिर कोई डर नहीं रहता। जिसका व्यवहार मृदु है, जो निश्छल है, सरल है, माया-कपट का जाल नहीं बुनता—उसे डर नहीं रहता। जिसमें संतोष है, उसे भी किसी बात का डर नहीं रहता। संतोष आदमी को अभय बना देता है। जो आदमी काली-कमाई में लिप्त है, जिसे हर समय किसी-न-किसी तरह कमाई करने की फिक्र रहती है—वह हर समय भयभीत रहता है। उसके चेहरे पर हर समय तनाव रहता है। इसके विपरीत जो इन बुराइयों से दूर है, अपने पसीने की कमाई पर संतोष करता है—वह सुख की नींद सोता है। उसे न छापे का डर होता है, न लुटने-पिटने का डर होता है।

अनैतिकता और अप्रामाणिकता के साथ भय जुड़ा है। पदार्थ और धन के साथ भय जुड़ा है। ममत्व के साथ भय जुड़ा हुआ है, मूर्च्छा के साथ जुड़ा हुआ है। जहां अहंकार है, वहां भी भय है। जो अपने-आप को बड़ा और सर्वोच्च मानता है, उसे भय रहता है कि कोई दूसरा मेरी बराबरी का न हो जाए। जहां त्याग है, वहां किस बात का भय! भोग और भय, त्याग और अभय—इन दोनों में तर्क-शास्त्रीय व्याप्ति का संबंध देखा जा सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**भोगे रोग भयं।**—भोग के साथ रोग का भय है। जो ज्यादा गरिष्ठ चीजें खाते हैं, वे नहीं जानते कि ये पदार्थ 'लीवर' पर क्या दुष्प्रभाव डालते हैं। केवल 'हार्ट' और 'लीवर' ही नहीं, शरीर का हर अवयव संवेदनशील है। वे अतिरिक्त दबाव या ज्यादती के खिलाफ विद्रोह करते हैं। शरीर ज्यादा समय तक मनमानी बर्दाश्त नहीं कर पाता। अगर युवावस्था में या असमय में शरीर रोगग्रस्त हुए या बुढ़ापे के लक्षण प्रकट हुए तो समझ लेना चाहिए कि शरीर के साथ मनमानी और ज्यादती हुई है। इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि क्या खाना स्वास्थ्य के लिए हितकर है और क्या खाना अहितकर है। तरह-तरह के व्यंजन बनाने में निष्णात होने की बजाय हितकर और अहितकर की जानकारी रखना कहीं ज्यादा जरूरी है। कौन-सा आहार 'विरुद्ध आहार' की श्रेणी में आता है—इसकी जानकारी होनी चाहिए। किस चीज के साथ कौन-सी चीज खानी या नहीं खानी चाहिए—यह जानना भी आवश्यक है। स्वाद नहीं, स्वास्थ्य मुख्य होना चाहिए।

महात्मा गांधी द्वारा बताए गए व्रतों में एक व्रत है—अस्वाद व्रत। जैन मुनियों के लिए भी भोजन या आहार का पूरा विधान है। साफ कहा गया है कि स्वाद के लिए भोजन न करें। स्वाद पर विजय पा लेंगे तो फिर डाक्टर-वैद्य या दवा की शरण में जाने की जरूरत नहीं होगी। धर्म के जितने भी प्रकार हैं, वे शरणातीत रहने की अवस्थाएं हैं। जितने भी भोग के प्रकार हैं, वे सब किसी-न-किसी की शरण में पहुंचाते हैं।

हम अपनी जीवनशैली और अपने जीवन-व्यवहार को देखें तो पाएंगे कि बहुत-सारी समस्याएं हमारे असंयम के कारण पैदा हुई हैं। अगर स्वस्थ रहना चाहते हैं और समस्या-मुक्त रहना चाहते हैं तो संयम के अलावा और कोई रास्ता नहीं। त्याग को जीवन में स्थान देना ही होगा। असीमित उपभोग से बचना होगा। पहले आदमी यह नियम करता था कि पांच द्रव्यों से ज्यादा नहीं खाऊंगा। मात्रा का भी नियम होता था कि इतने से ज्यादा नहीं खाऊंगा। आज उपभोग के संबंध में कोई सीमा नहीं है। मिल जाए तो लेते जाओ जितना ले सको।

धर्म के संदर्भ में हमें जीवन की समस्याओं पर विचार करना चाहिए। धर्म को हमें केवल क्रियाकांड के संदर्भ में ही नहीं लेना चाहिए। धर्म तो जीवन का नियामक है। जीवन को सही ढंग से चलाने का साधन है। खान-पान से लेकर पूरी जीवनशैली के साथ इसका संबंध है। हमारे जीवन की सारी प्रवृत्तियां धर्म के आलोक में होनी चाहिएं। धर्म को बड़प्पन के साथ न जोड़ा जाए और उसे स्वर्ग की प्राप्ति का साधन भी न माना जाए। स्वर्ग-प्राप्ति का साधन तो बाद में, पहले उसे सुख और शांति प्राप्त करने का साधन बनाएं। सुख और शांति मिल गए तो फिर स्वर्गिक आनंद का अनुभव तो इसी जन्म में कर लेंगे। उसके लिए स्वर्ग की प्रतीक्षा और अभिलाषा ही नहीं करनी पड़ेगी।

लोगों का एक रुग्ण चिंतन यह बन गया है कि पैसा मिला है तो उसका भरपूर उपयोग कर उसका मजा लेना चाहिए, पर मजे लेने का जो तरीका आदमी ने अपने मन में सोच रखा है—वह नितांत हास्यास्पद और बेहूदा है। पैसा है तो इसका मतलब यह नहीं कि शराब और शबाब में उसे खर्च करें। किसी को नीचा दिखाने में, अपनी छत को सबसे ज्यादा ऊंचा करने में, किसी के अधिकार को हड़पने में और स्वयं को 'सुपर' सिद्ध करने में उसका उपयोग करें। आदमी की प्रवृत्ति है कि धन आने पर सबसे पहले उसकी निगाह इन्हीं कामों पर जाती है। पता नहीं, पैसे में क्या है कि वह आता है तो विवेक दूसरे दरवाजे से खिसकना शुरू हो जाता है। बहुत कम लोग हैं—इस दुनिया में, जो पैसा आने पर अपनी बुद्धि और विवेक को कायम रख पाते हैं। उनकी दृष्टि परमार्थ और परार्थ पर टिकी रह पाती है।

आज जो मानसिक और जागतिक समस्याएं हैं, उन्हें सुलझाने के लिए हमें त्याग पर विचार करने की जरूरत है। आचार्यश्री भिक्षु के समय एक श्रावक थे। जोधाजी नाम था। वे मेवाड़ के थे और संभवतः बावलास के थे। उनके सात लड़कियां थीं। लड़का एक भी नहीं था। लोग सात लड़कियों के विवाह की विभीषिका दिखाते, लेकिन जोधाजी बेफिक्र थे। लड़कियां बड़ी हुईं तो उन्होंने घोषणा कर दी—देने के लिए मेरे पास सिर्फ बेटियां हैं, दहेज के लिए एक पाई भी नहीं। लड़के वालों को सिर्फ मीठा चावल खिलाने की मेरी हैसियत है, इससे ज्यादा नहीं। जिसको लड़की की चाह हो वे मेरे दरवाजे पर आएं और बिना दहेज के ले जाएं। जोधाजी की लड़कियां सुंदर और सुशील थीं। सब का विवाह हुआ और सभी अच्छे घरों में गईं। सात लड़कियां हों और पास में पैसा न हो तो आज के जमाने में कुछ पिता तो जहर खाने की सोच लेते हैं। लेकिन, जिनका चिंतन स्वस्थ है और प्रवृत्ति धार्मिक है, वे समस्या का भार सिर पर नहीं ढोते। समस्या स्वयं उनके जीवन से किनारा कर लेती है।

बड़प्पन की झूठी शान को छोड़ने की जरूरत है। ऐसी हर चीज, जो आदमी को अनैतिक और अप्रामाणिक बनाती है, हिंसा की ओर ले जाती है, बुराई के रास्ते पर ले जाती है—उसे छोड़ने की जरूरत है। अब जरूरत है कि हम धर्म को धर्मस्थान से निकाल कर अपने घर में लाएं, अपने जीवन-व्यवहार में लाएं। इसी से धर्म की आभा भी बढ़ेगी और आदमी का कल्याण होगा। ❖

स्वाध्याय से बुद्धि, तप से मेधा तथा योग से प्रज्ञा जाग्रत होती है। बुद्धि का काम है इंद्रियों के विषयों की छाप को अंतःकरण में ले आना। यह छाप अच्छी–बुरी, मलिन या विकृत हो सकती है। स्वाध्याय से बुद्धि सूक्ष्म और शुद्ध होने से विवेक विकसित होता है और योग्य प्रभाव के ग्रहण की तथा अयोग्य को त्यागने की शक्ति जाग्रत होती है। ऐसी विवेकशील बुद्धि का मेधा में रूपांतरण होता है। मेधा शब्द 'मेधृ' धातु (एकत्रित करना) से बना है। जिस प्रकार मधुमक्खी सभी फूलों से रस ग्रहण करती है उसी प्रकार मेधावी भी सारग्राही होता है।

—मकरंद दवे

इस महामंत्र का प्रत्येक पद रोम-रोम को झंकृत करता हुआ मानसिक एवं भावनात्मक पोषण देता है। अर्हत, सिद्ध आदि पंच परमेष्ठी के प्रति वंदना या श्रद्धा की अभिव्यक्ति आंतरिक शक्तियों को जाग्रत करती है। मंगलमय आत्माओं के स्मरण से मन पवित्र होता है, पुरातन वृत्तियों में शोधन होता है और व्यक्ति के जीवन में सदाचार का अवतरण होता है।
मनोविज्ञान के अनुसार इन सबकी पृष्ठभूमि में प्रेरक तत्त्व है—संवेग। हमारे शरीर में अनेक तत्त्व हैं, जो बल को बढ़ाने वाले हैं। 'एड्रीनल' ग्रंथि इतना स्राव करती है कि आदमी में अनचाही-अनजानी ताकत आ जाती है और वह बड़े से बड़ा काम करने में समर्थ बन जाता है। संवेगों से शरीर की पूरी कार्य प्रणाली बदल जाती है। व्यक्ति अति उत्साह से भर कर ऐसे-ऐसे कार्य कर गुजरता है कि जिसकी उसने कभी कल्पना तक नहीं की थी।

नमस्कार महामंत्र और मनोविज्ञान

साध्वी पुण्ययशा

आत्मबल और श्रद्धाबल से हनुमान का नागपाश, आचार्य मानतुंग की बेड़ियां, रणपाल के बंधन, श्रावक शोभजी की बेड़ियां टूट गई थीं—यह माना जाता रहा है। ऐसा क्यों हुआ? यदि अध्यात्म की भाषा में सोचें तो समाधान मिलता है कि जिसने समर्पण कर दिया हो और दिव्य शक्ति के साथ जो भेद है, उसे तोड़ दिया हो और उसके साथ गहरा तादात्म्य स्थापित कर लिया हो—अर्थात् जब अभेद प्रणिधान हो जाता है, तब शक्ति अपने-आप जाग जाती है।

नमस्कार महामंत्र ऐसी ही अचिंत्य शक्ति से संपन्न एक अमोघ मंत्र है। इस महामंत्र का प्रत्येक पद रोम-रोम को झंकृत करता हुआ मानसिक एवं भावनात्मक पोषण देता है। अर्हत, सिद्ध आदि पंच परमेष्ठी के प्रति वंदना या श्रद्धा की अभिव्यक्ति आंतरिक शक्तियों को जाग्रत करती है। मंगलमय आत्माओं के स्मरण से मन पवित्र होता है, पुरातन वृत्तियों में शोधन होता है और व्यक्ति के जीवन में सदाचार का अवतरण होता है।

मनोविज्ञान के अनुसार इन सबकी पृष्ठभूमि में प्रेरक तत्त्व है—संवेग। हमारे शरीर में अनेक तत्त्व हैं, जो बल को बढ़ाने वाले हैं। 'एड्रीनल' ग्रंथि इतना स्राव करती है कि आदमी में अनचाही-अनजानी ताकत आ जाती है और वह बड़े से बड़ा काम करने में समर्थ बन जाता है। संवेगों से शरीर की पूरी कार्य प्रणाली बदल जाती है। व्यक्ति अति उत्साह से भर कर ऐसे-ऐसे कार्य कर गुजरता है कि जिसकी उसने कभी कल्पना तक नहीं की थी। कार्य संपन्न हो जाने के बाद वह स्वयं आश्चर्यचकित रह जाता है कि यह काम कैसे हो गया?

ऐसा भी होता है कि संवेगावस्था में व्यक्ति के मानस से कुछ समय के लिए बुद्धि का नियंत्रण हट जाता है। ऐसी अवस्था में वह जो कुछ करता है, उसके अच्छे परिणाम भी

हो सकते हैं और दुष्परिणाम भी। इस प्रकार कुछ संवेग मानव को उच्चस्तरीय प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करते हैं, तो कुछ संवेग पशु के स्तर तक भी ले जाते हैं। भर्तृहरि ने पशु और मनुष्य की भेद रेखा मौलिक मनोवृत्तियों पर अंकुश के आधार पर ही स्थापित की हैं—

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मो ही तेषामधिको विशेष, धर्मेण हीना पशुभिः समाना।।

इसी क्रम में जैन आगमों में वर्णित दस संज्ञा और मनोविज्ञान की मनोवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण आयाम उद्घाटित कर सकता है।

महामंत्र का मन पर प्रभाव

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विचारणीय है कि नमस्कार महामंत्र का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है। आत्मिक शक्ति का विकास किस प्रकार होता है, जिससे इस महामंत्र को समस्त कार्यों में सिद्धि देने वाला कहा गया है। मनोविज्ञान मानता है मानव मन की दृश्य क्रियाएं उसके चेतन मन में और अदृश्य क्रियाएं अचेतन मन में होती हैं। मन की इन दोनों क्रियाओं को मनोवृत्ति कहा जाता है। प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, वेदनात्मक और क्रियात्मक। मनोवृत्ति के ये तीनों पहलू एक-दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते हैं। मनुष्य को जो कुछ ज्ञान होता है, उसके साथ-साथ वेदना और क्रियात्मक भाव की भी अनुभूति होती है। ज्ञानात्मक मनोवृत्ति के संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, कल्पना और विचार—ये पांच भेद हैं। संवेदनात्मक के संवेग, उमंग, स्थाई भाव और भावना-ग्रंथि—ये चार भेद एवं क्रियात्मक मनोवृत्ति के सहज-क्रिया, मूलवृत्ति, आदत, इच्छित-क्रिया और चरित्र—ये पांच भेद किए गए हैं। नमस्कार महामंत्र के जप से ज्ञानात्मक मनोवृत्ति उत्तेजित होती है, जिससे उससे अभिन्न रूप में संबद्ध रहने वाली उमंग वेदनात्मक अनुभूति और चरित्र नामक क्रियात्मक अनुभूति को उत्तेजना मिलती है। अभिप्राय यह है कि मानव मस्तिष्क में ज्ञानवाही या क्रियावाही—ये दो प्रकार की नाड़ियां होती हैं। इन दोनों नाड़ियों का आपस में संबंध है, परंतु इन दोनों के केंद्र पृथक हैं। ज्ञानवाही नाड़ियां और मस्तिष्क के ज्ञानकेंद्र मानव के ज्ञान विकास में एवं क्रियावाही नाड़ियां और मानव मस्तिष्क के क्रिया-केंद्र—उसके चरित्र के विकास की वृद्धि के लिए कार्य करते हैं।

क्रियाकेंद्र और ज्ञानकेंद्र का घनिष्ट संबंध होने के कारण नमस्कार महामंत्र की आराधना, स्मरण और चिंतन से ज्ञान-केंद्र और क्रिया-केंद्रों का समन्वय होने से मानव मन सुदृढ़ होता है और आत्मिक विकास की प्रेरणा मिलती है। अंतर्द्वंद्व शांत हो जाते हैं और नैतिक भावनाओं का उदय होता है। इससे अनैतिक वासनाओं का दमन होकर नैतिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस महामंत्र में उच्चरित ध्वनियों से ऋण और धन, दोनों प्रकार की विद्युत उत्पन्न होती है, जिससे कर्म कलंक भस्म हो जाता है। मानसिक एकाग्रता, आत्मिक सुख और आत्मस्वरूप की उपलब्धि में महामंत्र का आलंबन श्रेयस्कर है। श्रद्धा, भक्ति और एकाग्रतापूर्वक इस महामंत्र की आराधना से बुद्धि, वाणी, मन, देह सब पवित्र बन जाते हैं। यह महामंत्र एक ओर एकाग्रता का प्रतीक मंत्र है, तो दूसरी ओर भाव-शुद्धि का जनक भी है।

मौलिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में नमस्कार महामंत्र की उपयोगिता

संवेगों के आधार पर मनुष्य के स्वभाव और चरित्र का अध्ययन करने के लिए जो विधि काम में लाई गई, उसका नाम मनःविज्ञान या मनोविज्ञान पड़ा। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य में चौदह मूल प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक के चिंतनानुसार व्यक्ति में जितनी मूल प्रवृत्तियां होती हैं, उतने ही संवेग होते हैं। चौदह मूल प्रवृत्तियां हैं, तो चौदह प्रकार के संवेग भी हैं। ये हैं—

	मौलिक प्रवृत्तियां		संवेग
1.	पलायन-वृत्ति	:	भय
2.	संघर्ष-वृत्ति	:	क्रोध
3.	जिज्ञासा-वृत्ति	:	कुतूहल भाव
4.	आहारान्वेषण-वृत्ति	:	भूख
5.	विभीय-वृत्ति	:	वात्सल्य
6.	यूथ-वृत्ति	:	एकाकीपन या सामूहिकता
7.	विकर्षण-वृत्ति	:	जुगुप्सा भाव
8.	काम-वृत्ति	:	कामुकता
9.	स्वाग्रह-वृत्ति	:	उत्कर्ष भाव
10.	आत्मलघुता-वृत्ति	:	हीनता भाव
11.	उपार्जन-वृत्ति	:	स्वामित्व भाव
12.	रचना-वृत्ति	:	सृजन भाव

13. याचना-वृत्ति : दुख भाव

14. हास्य-वृत्ति : उल्लासित भाव

ये मौलिक प्रवृत्तियां समस्त प्राणियों में पाई जाती हैं। मनुष्य इन मौलिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन कर सकता है। केवल मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित जीवन तो असभ्य और पाशविक कहलाता है, अतः मूल प्रवृत्तियों में दमन, विलयन, मार्गांतरीकरण और शोधन—ये चार परिवर्तन होते रहते हैं। मौलिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में नमस्कार महामंत्र की उपयोगिता निर्विवाद और सार्वभौमिक है। इन चारों परिवर्तनों को हम समझने की कोशिश करें—

1. दमन : प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का बल उसके बराबर प्रकाशित होने से बढ़ता है। यदि किसी मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन पर कोई नियंत्रण नहीं रखा जाता है, तो वह मनुष्य के लिए लाभकारी न होकर हानिकारक हो जाती है। अतः दमन की क्रिया होनी चाहिए। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि संग्रह की प्रवृत्ति यदि संयमित रूप से रहे तो उससे मनुष्य जीवन की रक्षा होती है, किंतु जब यह निरंतर बढ़ती ही जाती है तो कृपणता और चोरी का रूप धारण कर लेती है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा इसका विवेचन निम्न प्रकार से वर्णित है—

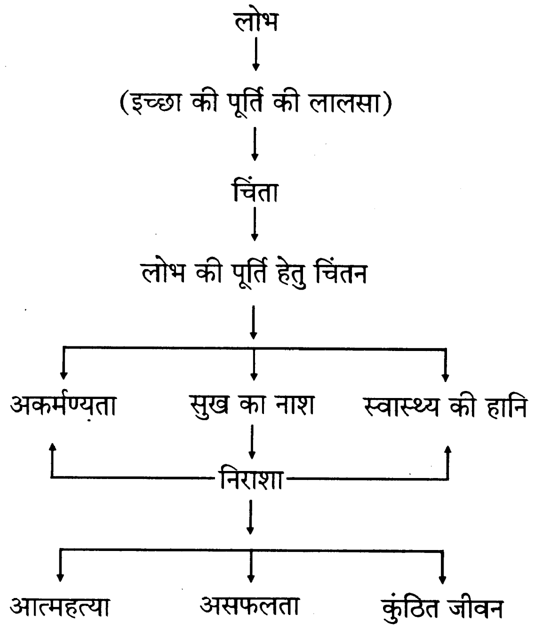

मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार 'चिंता' का जो विश्लेषण किया है, उसका अंतिम परिणाम—आत्महत्या, असफलता और कुंठित जीवन है। जब चिंता की पूर्ति नहीं होती तो आदमी हर तरह से निराश हो जाता है। निराश और चिंतित होने के कारण आदमी कई बार आत्महत्या कर बैठता है। ऐसी घटनाएं आए दिन देखने और सुनने को मिलती हैं।

इस प्रकार की मनोवृत्तियों से ऊपर उठ कर जीवन को उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक है कि अपनी वृत्तियों का दमन (नियंत्रण) एवं ऊर्ध्वीकरण करें। बचपन में नमस्कार महामंत्र के आदर्श के द्वारा मानव की मूल प्रवृत्तियों का ऊर्ध्वीकरण एवं नियंत्रण सरल एवं स्वाभाविक है। इस मंत्र का आदर्श श्रद्धा और दृढ़ विश्वास को उत्पन्न करता है, जिससे मूल प्रवृत्तियों को नियंत्रित रखने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

प्राचीन युग का योग और वर्तमान युग का मनोविज्ञान मानव के लिए वरदान स्वरूप है। मन की वृत्तियों के अध्ययन के लिए योग-शास्त्र में ध्यान, प्राणायाम, मंत्र-विद्या आदि का आलंबन लिया जाता है। जबकि मनोविज्ञान शास्त्र ध्यान विधि के अतिरिक्त आज के वैज्ञानिक युग के साधनों का प्रयोग भी करता है। मनोवैज्ञानिकों ने पागल मनुष्यों के मनोभावों को समझने के लिए विज्ञान के साधनों से पर्याप्त लाभ उठाया है। मानव चिकित्सालयों में पागल मनुष्यों के विकृत मस्तिष्कों की परीक्षा की जाती है। बिजली के प्रयोग भी उन पर करते हैं।

मनोविज्ञान में मन के तीन भेद माने जाते हैं—चेतन, अचेतन और अर्द्धचेतन। अचेतन मन को इच्छाओं एवं वासनाओं का अक्षय भंडार माना गया है। मनोविज्ञान के अनुसार जब मनुष्य की कोई इच्छा अतृप्त रह जाती है और उसका दमन कर दिया जाता है तब चेतन मन से निकल कर वह अवचेतन मन में अपना स्थान बना लेती है। यदि उसका शोधन या विरेचन नहीं किया जाता है तो वह दमित इच्छा मनुष्य के शरीर में किसी भयंकर रोग का रूप ग्रहण कर लेती है अथवा पागलपन में परिवर्तित हो जाती है। इस विषय में मनोविज्ञान यह समाधान प्रस्तुत करता है कि इच्छाओं का दमन मत करो, उसका ऊर्ध्वीकरण या रूपांतरण करो।

वृत्तियों के ऊर्ध्वीकरण में बहुत बड़ा आलंबन बनता है—नमस्कार महामंत्र। मंत्रविद् आचार्यों ने नमस्कार महामंत्र के साथ रंगों और चैतन्य केंद्रों का समायोजन भी किया है, जिसके अभ्यास से वृत्तियों का ऊर्ध्वारोहण या रूपांतरण आसानी से किया जा सकता है। हमारी मानसिक

स्वस्थता का संबंध प्राणधारा के साथ जुड़ा हुआ है। प्राण को सक्रिय और निर्मल बनाने के लिए नमस्कार महामंत्र की साधना प्राण के पांच बीजों के साथ की जाती है। 'साधना और सिद्धि' नामक पुस्तक (ले. : आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) में प्राणधारा के पांच बीज बताए गए हैं—**यैं पैं वैं रैं लैं**। इन बीजाक्षरों के साथ महामंत्र की आराधना की जाती है। **ॐ अर्हं** के साथ भी इस महामंत्र की आराधना वृत्ति-परिष्कार में योगभूत बनती है।

ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचंद्र ने लिखा है—महामंत्र पदों की विद्युत शक्ति आत्मा में इस प्रकार का झटका देती है कि जिससे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह-जन्य समस्याएं सहज ही परिष्कृत हो जाती हैं। इस महामंत्र की शक्ति को अवचेतन मन तक पहुंचाकर अवचेतन मन के स्तर पर जमीं परतों को निरस्त किया जा सकता है तथा मन को अनुशासित रखा जा सकता है। नमस्कार महामंत्र के उच्चारण, स्मरण, चिंतन, मनन और ध्यान द्वारा मन पर इस प्रकार के संस्कार पड़ते हैं कि जिससे जीवन में श्रद्धा और विवेक का प्रादुर्भाव स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि मूलतः मनुष्य का जीवन, श्रद्धा और सद्विचारों पर ही अवलंबित है। श्रद्धा और विवेक को छोड़ कर मनुष्य मनुष्य की तरह जीवित नहीं रह सकता है। अतः जीवन की मौलिक प्रवृत्तियों का दमन या नियंत्रण करने के लिए महामंगल रूप नमस्कार महामंत्र का स्मरण परम आवश्यक है।

2. विलयन : मौलिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय है—विलयन। विलयन दो प्रकार से हो सकता है—(1) निरोध द्वारा और (2) विरोध द्वारा। निरोध का अर्थ है—वृत्तियों को उत्तेजित होने का अवसर ही नहीं देना। इससे मौलिक प्रवृत्तियां कुछ समय पश्चात् अपने आप ही नष्ट हो जाती हैं। विलियम जेम्स का कथन है कि यदि किसी प्रवृत्ति को अधिक काल तक प्रकाशित होने का अवसर न मिले तो वह नष्ट हो जाती है। अतः धार्मिक आस्था द्वारा व्यक्ति अपनी विकार प्रवृत्तियों को अवरुद्ध कर उन्हें नष्ट कर सकता है। दूसरा उपाय—जो विरोध द्वारा प्रवृत्तियों के विलयन के लिए कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि जिस समय एक प्रवृत्ति कार्य कर रही है, उसी समय उसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति को उत्तेजित होने देना। जैसे द्वंद्व प्रवृत्ति के उमड़ने पर सहानुभूति की प्रवृत्ति को उभार दिया जाए तो उस प्रवृत्ति का विलयन सरलता से हो जाता है। इस प्रतिपक्षी वृत्ति को उत्तेजित करने में प्रेक्षाध्यान में निर्दिष्ट अनुप्रेक्षाओं के प्रयोगों को बहुत अंशों तक सफल प्रयोग कहा जा सकता है। दसवैकालिक सूत्र में क्रोध आदि की विजय के लिए प्रतिपक्ष भावना का उल्लेख निम्न प्रकार से उद्धृत हुआ है—

उवसमेण हणे कोहं,
माणं मद्दवया जीणे।
मायं चज्जव भावेण,
लोहो संतोसओ जिणे।।

अर्थात् उपशम से क्रोध को, मृदुता से मान को, ऋजुता से माया को और संतोष से लोभ को जीतो।

नमस्कार महामंत्र कषाय एवं कामनाओं को समाप्त करने वाला मंत्र है। यह सद्भावना, सहिष्णुता, आत्मानुशासन तथा विनम्रता के भावों को विकसित करने

संवेग नियंत्रण हेतु आचार्यश्री महाप्रज्ञ की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण प्रयोग

1. कामवासना की शांति के लिए—
ॐ ह्रीं णमो सव्वसाहूणं। (ध्यान पैर के अंगूठे पर रहे)
2. आवेश या उत्तेजना शांति के लिए—
ॐ ह्रीं णमो अरहंताणं
3. मनोबल दुर्बल हो या 'डिप्रेशन' के भाव आने पर—
ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं
4. स्मृति विकास के लिए—
ॐ ह्रीं णमो आयरियाणं
5. बुरा विचार आने पर—
ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं
6. विपत्ति के समय—
एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावपणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।।
नोट—उपरोक्त प्रत्येक मंत्र का 108 बार जप करें।
7. चिड़चिड़ापन से मुक्ति पाने के लिए—
आनंद केंद्र पर हरे रंग में **हूं** का जप।
8. निषेधात्मक विचारों से मुक्ति पाने के लिए—
विशुद्धि केंद्र पर **ॐ ह्रीं णमो आयरियाणं** का जप श्वास के साथ। (30 मिनट)

→

वाला मंत्र है। अतः वृत्तियों के विलयन में यह मंत्र सहायक सिद्ध होता है।

नमस्कार महामंत्र से जब समर्पण, श्रद्धा व तन्मयता की शक्ति का सामर्थ्य प्रकट हो जाता है, तब मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भाव विकसित होते हैं, विकारों का परिष्कार करने के लिए पंच परमेष्ठी के आदर्श से अन्य कोई उत्तम आदर्श नहीं हो सकता। जप का अर्थ भी यही है कि शब्द के उच्चारण के माध्यम से परम शक्ति की सन्निधि को प्राप्त कर लेना। जप की तन्मयता से जब परम आत्मा की, परम शक्ति की सन्निधि प्राप्त होती है, तब मनुष्य बदल जाता है। भय और वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। आवेग और आवेश नष्ट हो जाते हैं और एक नए जीवन का निर्माण होता है।

3. मार्गांतरीकरण : मार्गांतरीकरण का उपाय दमन और विलयन से श्रेष्ठ है। नमस्कार महामंत्र के द्वारा बचपन से ही मौलिक प्रवृत्तियों का मार्गांतरीकरण किया जा सकता है। सद्विचारों, भावनाओं एवं मंत्रोच्चारण से मौलिक प्रवृत्तियों का मार्गांतरीकरण करने पर वे विचार, भावनाएं व्यक्ति को श्रेष्ठता और उदारता की ओर अग्रसर करने में सहायक बनती हैं।

नमस्कार महामंत्र का जप व्यक्ति के भीतर ऐसे विश्वास और श्रद्धा का भाव उत्पन्न करता है कि जिससे वृत्तियों का मार्गांतरीकरण आसानी से संभव है। वस्तुतः साधक की विचार शक्ति 'स्विच' का काम करती है और मंत्र शक्ति विद्युत तरंग का। सचमुच यह मंत्र व्यक्ति को अपनी प्रसुप्त शक्तियों से परिचित कराने वाला महामंत्र है। इसकी साधना से अध्यात्म का समूचा मार्ग आलोकित होता है।

९. मंगल भावों को निर्मित करने के लिए—
अरहंता मंगलं का जप विशुद्धि केंद्र पर (प्रतिदिन एक माला)

१०. अभय की साधना के लिए (भय निवारण हेतु)—
ॐ णमो अरहंताणं
ॐ णमो सिद्धाणं
ॐ णमो आयरियाणं
ॐ णमो उवज्झायाणं
ॐ णमो लोए सव्व साहूणं

११. अनुकूल स्थिति का निर्माण—
ह्रीं णमो उवज्झायाणं
ह्रीं णमो लोए सव्व साहूणं
ह्रीं णमो आयरियाणं
ह्रीं णमो सिद्धाणं
ह्रीं णमो अरहंताणं (प्रतिदिन एक माला, मंत्र सिद्धि के लिए १2,००० जप)

१2. संकल्प सिद्धि के लिए—
ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं (दर्शन केंद्र पर दीर्घश्वास के साथ मानसिक जप आधा घंटा)

१3. अभ्युदय (सर्वतोमुखी विकास) के लिए—
ॐ ह्रीं यैं णमो अरहंताणं (प्रतिदिन एक माला) ●

4. शोधन : मौलिक प्रवृत्तियों का शोधन एक प्रकार से मार्गांतरीकरण ही है। आर्त व रौद्र ध्यान से मन को हटा कर उसे धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान में लगाना शोधन है। नमस्कार महामंत्र अपने-आप को देखने तथा शांति प्राप्त करने का सशक्त उपक्रम है। इसकी आराधना आर्त व रौद्र-ध्यान से मुक्ति दिला कर धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान का मार्ग प्रशस्त करती है।

जैन आगमों में उल्लिखित आवेगों का उपशम, क्षयोपशम और क्षयीकरण ही मनोविज्ञान की भाषा में दमन, विलयन, मार्गांतरीकरण और शोधन है। कर्म शास्त्रानुसार संवेग के चार प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें केवल किताबी अध्ययन से नहीं बदला जा सकता। इनके शोधन हेतु भीतरी परिवर्तन में अपना प्रस्ताव पारित करना होगा। परिवर्तन के लिए ध्यान, मौन, जप, स्वाध्याय, खाद्यसंयम, अनुप्रेक्षा, योगासन आदि अध्यात्म के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं।

व्यवहार के धरातल पर बार-बार किया जाने वाला जाप विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया का संतुलन करता है, जो व्यक्तित्व निर्माण का प्रेरक व पोषक बनता है। उदाहरणार्थ—एक ही शब्द दस-बीस बार दोहराने से वह याद हो जाता है। जैसे रूमाल हमेशा दाहिनी जेब में रखते हैं और एक दिन भूल से बाईं जेब में रख दिया, तो हाथ दाहिनी जेब में ही जाएगा। इसी तरह साइकिल चलाने, टाइपराइटर सीखने, कार चलाने या किसी अन्य कार्य का अभ्यास हो जाने पर वह कार्य सहज हो जाता है। टाइप करने वाला 'मैटर' को पढ़ता जाता है और अंगुलियां टाइपराइटर पर चलती रहती हैं, फिर भी टाइप में गलती नहीं

होती। क्योंकि अंगुलियों का वैसा अभ्यास हो चुका होता है। इसी प्रकार नमस्कार महामंत्र और शुभ-भावों का पुनः-पुनः अभ्यास व अनुप्रेक्षा आदि के प्रयोगों का अभ्यास व्यक्ति के चरित्र का अंग बन जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सिद्धहस्त महायोगी हैं। वर्षों तक ध्यान व मंत्र की गहरी साधना के पश्चात् उन्होंने—'एसो पंचणमोक्कारो', 'मंत्र : एक समाधान', 'भीतर की ओर'—कृतियों में नमस्कार महामंत्र की विशिष्ट लब्धियों व मंत्रों का समायोजन व संकलन किया है। उन प्रयोगों के सतत अभ्यास से संवेगों पर नियंत्रण स्थापित कर उनका दमन, विलयन, मार्गांतरीकरण एवं शोधन आसानी से किया जा सकता है। अध्यात्म-विकास के द्वारों का उद्घाटन किया जा सकता है।

संकल्प शक्ति : संवेग नियंत्रण

संकल्प एक कवच है, जो बाहरी खतरों से रक्षा करता है। संकल्प एक 'फिल्टर' है, जो भीतर में स्थित दुर्विचार रूपी कचरे की सफाई करता है। संकल्प सफलता का राजमार्ग है। दुनिया की कोई सबसे बड़ी ताकत है तो वह है—संकल्प की शक्ति। संकल्प-शक्ति के द्वारा संवेगों पर नियंत्रण सुगमता से पाया जा सकता है।

मानसिक भय से मुक्ति पाने के लिए संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए, अभय की अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाना चाहिए। अजपाजप की तरह प्रत्येक श्वास में यह संकल्प चलता रहे कि 'मेरे चित्त पर अभय के भाव पुष्ट हो रहे हैं, भय के भाव क्षीण हो रहे हैं।' दृढ़ संकल्प के साथ अभय की अनुप्रेक्षा का ऐसा जादुई प्रभाव होता है कि भय का संवेग अभय में बदल जाता है।

नमस्कार महामंत्र में किसी व्यक्ति विशेष की वंदना नहीं, भौतिक अभिसिद्धि की कामना भी नहीं—यह तो आत्मा के निकट ले जाने वाला मंत्र है। मनोविज्ञान के गूढ़ रहस्य इसमें अंतर्निहित हैं। इसके स्मरण से साधक को मांगलिक जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है, उच्चारण से प्राण चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है। ज्ञानियों के प्रति नम्रता होने से ज्ञान का विकास होता है। अहिंसा, संयम और तप की चेतना का विकास होता है।

मंगल भावना से भरा यह मंत्र जगत में मांगल्य भावों की वृद्धि करता है। इसी दृष्टि से इस महामंत्र को—**मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं**—कहा गया है। यह वास्तविक एवं पारमार्थिक मंगल है, मंगल वातावरण का निर्माता है। इस महामंत्र का अपना संगीत, अपना माधुर्य और अपना मनोविज्ञान है। इसे अपने जीवन में आत्मसात कर व्यक्ति विशिष्ट उपलब्धियों का स्वामी हो सकता है। अपेक्षा है मात्र सघन अभ्यास की।

निष्कर्षतः इस विश्लेषण का अभिप्राय इतना ही है कि 'नमस्कार महामंत्र' के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने मन को प्रभावित कर सकता है। चित्त को निर्मल बना सकता है। यह मंत्र मनुष्य के चेतन, अचेतन और अर्द्ध-चेतन—तीनों प्रकार के मनों को प्रभावित कर अचेतन और अवचेतन मन पर सुंदर व स्थाई भाव का ऐसा संस्कार डाल सकता है जिससे मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार हो जाता है और अवचेतन मन में वासनाओं को अर्जित होने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

नमस्कार महामंत्र सभी मंत्रों का सार है। यदि मंत्र का सही प्रयोग करना आ जाए तो यह मन को एकाग्र और निर्मल करने में आलंबन-भूत और सहायक बन सकता है। वास्तव में वही ज्ञान प्रज्ञा बन सकता है, जो प्रत्यक्ष अनुभूति से प्रादुर्भूत होता है। श्रद्धा ज्ञान देती है, नम्रता मान देती है और योग्यता स्थान देती है। नमस्कार महामंत्र की आराधना से यह त्रिवेणी संगम उजागर हो जाता है। ❖

किसी व्यक्ति का चरित्र उन सब प्रवृत्तियों का समूह है जो उसमें पाई जाती हैं। प्रारंभ में इसका आधार वंशानुगत व्यवहार होता है, वे मौलिक, नैसर्गिक जन्मजात प्रवृत्तियां जो व्यक्ति की मानसिक पूंजी होती हैं, जिससे वह जीवन व्यापार चलाता है, पर धीरे-धीरे सामाजिक स्थितियों के प्रभाव से ये प्रवृत्तियां आदतों में परिणत होने लगती हैं। वे स्थिर, स्थाई और निश्चित रूप धारण करती हैं। बहुधा चरित्र को आदतों का पुलिंदा बतलाया जाता है। पर, चरित्र इससे कुछ अधिक और अतिरिक्त भी है। आदतें यांत्रिक और स्वायत्त (automatic) होती हैं और निश्चित स्थितियों में ही कार्य कर सकती हैं, पर जीवन यांत्रिक नहीं, उसमें साहस और सर्जनात्मक कार्य का अंश पाया जाता है।

—हंसराज भाटिया

दान की परंपरा एवं अवधारणा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन काल में राजाओं एवं धनाढ्य व्यक्तियों की ओर से दानशालाएं चलती थीं। दुर्भिक्ष आदि में उनकी विशेष व्यवस्था की जाती थी। उस समय दान समाज-व्यवस्था का एक प्रधान अंग था।

साधुओं को दान देना प्रारंभ हुआ, तब यह मोक्ष के साथ जुड़ गया और लोकोत्तर धर्म का अंग बन गया। समाज में दीन वर्ग की सृष्टि हुई, तब दान करुणा से जुड़ गया। दान के कारण समाज में अकर्मण्यता बढ़ने लगी। तब दान के लिए पात्र, अपात्र की सीमाएं बनने लगीं। इससे दाताओं का गर्व बढ़ने लगा, तब दाता के स्वरूप की मीमांसा की जाने लगी।

समय का प्रवाह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, त्यों-त्यों दान के पीछे की प्रेरणा में विवेक कम होने लगा। सभी प्रकार के दान आध्यात्मिक धर्म माने जाने लगे। जबकि सामाजिक दृष्टि से दान का लौकिक महत्त्व भर है। लौकिक और लोकोत्तर दान के परिणाम एक नहीं हो सकते। लौकिक दान से मान-प्रतिष्ठा, सहयोग आदि लौकिक उपलब्धियां होती हैं तथा लोकोत्तर दान से संवर व निर्जरा-रूप धर्म का लाभ होता है।

दान : एक अनुशीलन

मुनि विनोदकुमार 'विवेक'

अध्यात्म जगत में दान का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रत्येक धर्म-संप्रदाय में दान के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। जैन परंपरा में भी दान को लेकर विशद चर्चा हुई है। मोक्ष के जो चार मार्ग बताए गए हैं— 1. दान, 2. शील, 3. तप और 4. भावना, इनमें भी प्रथम स्थान दान को ही दिया गया है। स्वत्व का विसर्जन करना बहुत कठिन होता है। अपनी वस्तु दूसरों को निस्वार्थ भाव से दे देना प्रकारांतर से साधना का ही प्रतिफल होता है। यह कार्य हर किसी से नहीं हो सकता। वेदव्यासजी का मत है—

शतेषु जायते शुरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दशदहस्रेषु दाता भवति वा न वा।

अर्थात् शूरवीर सौ में एक होता है, पंडित हजार में एक होता है, वक्ता दस हजार में एक होता है, किंतु दाता तो क्वचित होता है, क्वचित नहीं भी होता। अनेक विद्वानों एवं संतों ने दान की महिमा का गान किया है। आचार्य सोमभद्र दान के लाभ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि दान कभी निष्फल नहीं होता, उन्हीं के शब्दों में—

पात्रं धर्म निबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं दया ख्यापकं
मित्रे, प्रिती विवर्धनं, तदितरे वैरापहारक्षयम्।
भृत्ये भक्ति भरावहं नरपतौ सम्मान संपादकं,
भट्टादौ सुयशस्करं वितरणं न स्वाप्य हो निष्फलं।

अर्थात् दान कहीं भी निष्फल नहीं होता। देखो! सुपात्र को देने से धर्म होता है, अन्य को (गरीब को) देने से व्यावहारिक दया को जाहिर करता है। मित्र को देने से प्रेम बढ़ता है, शत्रु को देने से वैर का नाश होता है; नौकरों को देने से भक्ति पैदा करता है, राजा को देने से सम्मान दिलाता

है और चारण-भाटों को देने से यश-कीर्ति फैलाता है। चाणक्य ने दान को दरिद्रता का नाश करने वाला माना है।

दान की परिभाषा

तत्त्वार्थ सूत्र में दान की परिभाषा इस प्रकार की है—**अनुग्रहार्थं स्वस्थातिसर्गो दानम्**—अर्थात् अनुग्रहार्थ वस्तु का त्याग करना दान है। गणाधिपति श्री तुलसी के अनुसार—**स्वपरोपकारार्थ वितरणं दानम्**—अपने एवं पराए उपकार के लिए देने का नाम 'दान' है।

दान के भेद-प्रभेद

दान की पृष्ठभूमि में जो प्रेरणाएं कार्य करती हैं, वे भिन्न-भिन्न होती हैं। उन प्रेरणाओं के आधार पर उमास्वाति ने ठाणं सूत्र में दान के दस भेद किए हैं।

(1) अनुकंपा दान

कृपण, अनाथ, दरिद्र, दुखी, रोगी और शोक ग्रस्त व्यक्ति पर करुणा लाकर जो दान दिया जाता है वह—अनुकंपा दान है।

कृपणेऽनाथ द्ररिद्रे व्यसन प्राप्ते च रोग शोक हते।
यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवेद्दानम्।।

(2) संग्रह दान

किसी भी व्यक्ति को उसके अभ्युदय काल या कष्ट दशा में सहायता देने के लिए जो दान दिया जाता है—वह संग्रह दान है।

अभ्युदये व्यसने वा यत्किञ्चिद्दीयते सहायार्थम्।
तत् संग्रहतोऽभिमतं, मुनिर्भिदानं न मोक्षाय।।

(3) भयदान

जो दान राजा, आरक्षक, पुरोहित, मधुमुख, चुगलखोर और कोतवाल आदि के भय से दिया जाता है—वह भयदान है।

राजा रक्ष पुरोहित मधु मुख मावल्ल दण्ड पाशिषु च।
यद्दी यते भयार्थात् तद् भयदानं बुधैर्ज्ञेयम्।।

(4) कारुण्य दान

कारुण्य का अर्थ शोक है। अपने प्रियजन का वियोग होने पर उसके उपकरण—वस्त्र, खटिया आदि दान में देते हैं। इसके पीछे एक लौकिक मान्यता है कि उसके उपकरण दान में देने पर वह जन्मांतर में सुखी होता है। इस प्रकार का दान—कारुण्य दान कहलाता है। वास्तव में यह कारुण्य जन्य (शोक जन्य) दान है। फिर भी कार्य-कारण का अभेद मान कर इसकी संज्ञा कारुण्य दान की गई है।

(5) लज्जा दान

जन समूह के बीच कोई किसी से याचना करता है, तब दूसरे की बात रखने के लिए दान दिया जाता है—यह लज्जा दान है।

अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूह मध्यगतः।
परचित रक्षणार्थ लज्जायास्तद् भवेद्दानम्।।

(6) गौरव दान

जो दान अपने यश के लिए नट, नृत्यकार, मुक्केबाजों तथा अपने संबंधी बंधु और मित्रों को दिया जाता है—वह गौरव दान है।

नट्ट नर्त्त मुष्टिकेभ्यो दान संबंधि बंधु मित्रेभ्यः।
यद्दीयते यशोर्थं गर्वेण तु तद् भवेद्दानम्।।

(7) अधर्म दान

जो व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और संग्रह में आसक्त है, उन्हें जो दान दिया जाता है—वह अधर्म दान है।

हिंसानृत चौर्योद्यत परदार परिग्रह पसक्तेभ्यः।
यद्दी यते ही तेषां तज्जानीयादधर्माय।।

(8) धर्म दान

जो तृण, मणि और मुक्ता में समभाव वाले हैं, जो सुपात्र हैं, उन्हें दिया जाने वाला दान—धर्म दान है। यह दान अक्षय है, अतुल है और अनंत है।

समतृण मणि मुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः।
अक्षयमतुलमनन्तं, तद्दानं भवति धर्माय।।

(9) करिष्यति दान

भविष्य में यह मेरा उपकार करेगा, इस बुद्धि से किया जाने वाला—करिष्यति दान कहलाता है।

(10) कृतमिति दान

इसने मेरा सैकड़ों बार उपकार किया है और इसने मुझे हजारों बार सहयोग दिया है। मैं भी इसका कुछ प्रत्युपकार करूं, इस भावना से दिया जाने वाला दान कृतमिति दान है।

शतशः कृतोपकारो दतं च सहस्रशो ममानेन।
अहमपि ददामि किञ्चित प्रत्युपकारायतद्दानम्।।

दान की परंपरा का विकास

दान की परंपरा के विकास-क्रम पर प्रकाश डालते हुए

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि—यौगलिक काल में दान जैसा कोई तत्त्व नहीं था। भगवान ऋषभ ने दीक्षा से पूर्व दान देना चाहा, पर कोई लेने वाला नहीं मिला और जब उन्होंने दीक्षा ली तो एक वर्ष तक दान देने वाला नहीं मिला। दान की परंपरा एवं अवधारणा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन काल में राजाओं एवं धनाढ़्य व्यक्तियों की ओर से दानशालाएं चलती थीं। दुर्भिक्ष आदि में उनकी विशेष व्यवस्था की जाती थी। उस समय दान समाज-व्यवस्था का एक प्रधान अंग था।

साधुओं को दान देना प्रारंभ हुआ, तब यह मोक्ष के साथ जुड़ गया और लोकोत्तर धर्म का अंग बन गया। समाज में दीन वर्ग की सृष्टि हुई, तब दान करुणा से जुड़ गया। दान के कारण समाज में अकर्मण्यता बढ़ने लगी। तब दान के लिए पात्र, अपात्र की सीमाएं बनने लगीं। इससे दाताओं का गर्व बढ़ने लगा, तब दाता के स्वरूप की मीमांसा की जाने लगी।

समय का प्रवाह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, त्यों-त्यों दान के पीछे की प्रेरणा में विवेक कम होने लगा। सभी प्रकार के दान आध्यात्मिक धर्म माने जाने लगे। जबकि सामाजिक दृष्टि से दान का लौकिक महत्त्व भर है। लौकिक और लोकोत्तर दान के परिणाम एक नहीं हो सकते। लौकिक दान से मान-प्रतिष्ठा, सहयोग आदि लौकिक उपलब्धियां होती हैं तथा लोकोत्तर दान से संवर व निर्जरा-रूप धर्म का लाभ होता है।

आचार्यश्री भिक्षु ने सभी प्रकार के दान एक समान नहीं माने और उन्हें लौकिक और लोकोत्तर—इन दो भागों में बांटा। उन्होंने कहा आक का दूध भी दूध होता है और गाय का दूध भी दूध ही होता है, पर दोनों का उपयोग सर्वथा भिन्न होता है। आक का दूध औषधि के रूप में, बाह्य रूप से प्रयोग में लाया जाता है। जबकि गाय का दूध आहार के रूप में प्रयुक्त होता है। दोनों का अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना महत्त्व होता है। दोनों ही दूध हैं, इसलिए एक ही उद्देश्य से दोनों का उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार दोनों ही 'दान' होते हुए भी एक ही कोटि में नहीं आते। दोनों ही दान अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। उन्होंने दान के लौकिक और लोकोत्तर होने की भेद रेखा को संयम की कसौटी पर कसा। जिस दान से संयम पुष्ट होता है, उसे लोकोत्तर दान माना और जिससे असंयम पुष्ट होता है—उसे लौकिक दान माना। आचार्यश्री तुलसी ने इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया—

पोषण जठै असंजम रो, वो दान दान है धर्म नहीं।
मारै एकण न पुचकारे, रोष राग है धर्म नहीं।।
हो सन्ता! लौकिक-लोकोत्तर दोनों पृथक प्रकार हो।।

(तेरापंथ प्रबोध)

दोनों ही तरह के दान इस प्रकार से स्पष्टतः समझे जा सकते हैं—

लौकिक हितों की दृष्टि से जो दान दिया जाता है—वह **लौकिक दान** है। पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का निर्वाह करना, लोगों की सुविधा के लिए जलाशय, सड़क, भवन, भोजनशालाओं आदि का निर्माण करना अथवा गरीबों को आवश्यक सामग्री देना आदि कार्य **लौकिक दान** के अंतर्गत आते हैं।

इसी तरह जिस दान से आत्मा का हित होता है—वह **लोकोत्तर दान** है। यह तीन प्रकार का होता है—1. ज्ञान दान, 2. अभय दान और 3. संयती दान।

संयती दान का महत्त्व

लोकोत्तर दान में संयती दान का विशेष महत्त्व है। इसे सुपात्र-दान भी कहते हैं। श्रमण समाज अपरिग्रही-अनारंभी होता है। आहार के लिए वे पचन-पाचन नहीं करते, परंतु शरीर धारण करने के लिए आहार तो आवश्यक ही होता है। इसलिए आहार के लिए गृहस्थों पर आश्रित रहते हैं। ऐसे साधनामय जीवन जीने वाले श्रमणों को दान देना संयम और साधना में सहयोग देना है। यह कर्म-निर्जरा का बहुत बड़ा माध्यम है। भगवती सूत्र में गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भगवन! श्रमणोपासक यदि तथारूप श्रमण को प्रासुक एषणीय आहार देता है तो क्या लाभ होता है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! वह एकांत कर्म-निर्जरा करता है, लेकिन किंचित मात्र भी पाप नहीं करता।

संयती दान के फल का प्रतिपादन करते हुए भगवती सूत्र में कहा है कि श्रमणोपासक मुनि को प्रासुक एषणीय दान देता है, वह मुनि के मन में भी समाधि उत्पन्न करता है। इसके प्रतिफल में वह भी समाधि को प्राप्त करता है तथा अपने सभी दुखों का अंत कर सिद्धि को प्राप्त करता है।

व्यास-स्मृति में सुपात्र-दान की महत्ता इस प्रकार बताई है—

सुक्षेत्रे वापयेदबीजं, सुपात्रे दापयेद्धनम्।
सुक्षेत्रे च सुपात्रे च, क्षिप्रं नैव ही दुष्यति।।

अर्थात् सुक्षेत्र एवं सुपात्र में डाला हुआ द्रव्य नष्ट नहीं होता। अतः सुक्षेत्र में बोओ और सुपात्र को दान दो।

उपदेश तरंगिणी में सुपात्र दान का लाभ बताते हुए कहा है—

व्याजे स्याद्द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं भवेत।।

अर्थात् धन ब्याज में दुगुना, व्यापार में चौगुना, खेत में सौगुना और सुपात्र को दिया हुआ अनंत गुणा होता है।

आचार्यश्री भिक्षु के सिद्धांतों के अनुसार संयमी को दान देने से संयम का पोषण होता है। इसलिए यह मोक्ष का मार्ग है। संयमी को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि जो पूर्ण अहिंसक हो—अर्थात् जो मनसा, वाचा, कर्मणा कृत-कारित और अनुमति से अहिंसा का पालन करे—वह संयमी है।

संयती दान की कसौटियां

संयती दान में विवेक का होना बहुत जरूरी है। इसकी तुलना हीरे के व्यापार से की जाती है। जिस प्रकार हीरे के व्यापार में थोड़ी-सी चूक हो जाए तो लाभ के स्थान पर हानि हो जाती है, उसी प्रकार संयती दान में पूरा विवेक न रहे तो लाभ के स्थान पर हानि की संभावना रहती है।

संयती दान अपनी कसौटियों पर खरा उतरने पर ही लाभप्रद होता है। इसकी चार कसौटियां इस प्रकार मानी जा सकती हैं—(1) **शुद्ध दाता**—इसका अर्थ है—देने वाला व्यक्ति शारीरिक शुद्धता के साथ-साथ किसी प्रकार की हिंसक प्रवृत्ति में संलग्न नहीं रहे। दान देने के पहले, बाद में और देते समय दाता के द्वारा दान से संबंधित किसी प्रकार की हिंसा नहीं होनी चाहिए। (2) **शुद्ध वस्तु**—देय वस्तु का शुद्ध होने से तात्पर्य यह है कि वस्तु प्रासुक और साधु के लिए एषणीय हो। भगवती सूत्र के भाष्य में प्रासुक का अर्थ जीव रहित और एषणीय का अर्थ एषणा के दोषों से रहित किया गया है। शुद्ध वस्तु के संदर्भ में बयालीस प्रकार के दोषों का वर्णन जैन आगमों में मिलता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से समझते हुए दोष मुक्त पदार्थ शुद्ध होता है। (3) **शुद्ध-पात्र**—संयती दान का पात्र संयती ही होता है। बाहर से संयती दिखने वाला हो सकता है कि वास्तव में संयती न हो और वास्तव में जो संयती है, वह बाहर से असंयती प्रतीत हो सकता है। इसलिए निश्चित में संयती-असंयती होने का निर्णय अतींद्रिय ज्ञान का विषय है। एक सामान्य दाता पात्र के संयती या असंयती होने का निर्णय व्यवहार से करता है। वह व्यवहार में जिसे संयती मानता है, वह संयती दान का पात्र है। (4) **शुद्ध भावना**—दान देने वाले की मनोभावना का शुद्ध होना भी एक कसौटी है। ज्ञाता-धर्मकथा-सूत्र में भावना रहित दान को अनर्थ का हेतु बताते हुए कहा है—

अमणुण्णभत्तिए पत्ते दाणं भवे अणत्थाय।
जह कडुय-तुंब-दाणं, नागसिरी-भवम्मि दोवईए।

अमनोज्ञ और भक्ति भावना से रहित पात्र दान भी अनर्थ का हेतु बन जाता है। जैसे द्रौपदी द्वारा नागश्री के भव में दिया गया कटुक तुंबे का दान। संयती दान में दाता और ग्राहक, दोनों की कसौटियों को देखते हुए इसे एक दुर्लभ उपलब्धि कहा गया है।

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं।।

मुहादाई (प्रतिफल की कामना किए बिना निःस्वार्थ भाव से देने वाला) दुर्लभ है और मुहाजीवी (मुझे मोक्ष की साधना के लिए जीना है और उसी के लिए खाना है, ऐसा चिंतन करने वाला) भी दुर्लभ है। मुहादाई और मुहाजीवी, दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।

संयती दान का विवेक

भगवान महावीर ने विवेक युक्त क्रिया को ही धर्म कहा है। दान के संदर्भ में भी कुछ व्यावहारिक बातों का विवेक होना बहुत जरूरी है। जैसे—**दान का प्रदर्शन न करे**—जो व्यक्ति दान देकर अपना प्रदर्शन करता है, वह दान नहीं अहंकार का पोषण और आडंबर मात्र है। प्रदर्शन से दान का अवमूल्यन हो जाता है। **देकर प्रसन्न हों**—दान देकर वास्तविक और सात्त्विक प्रसन्नता का अनुभव करें। प्रसन्नता कर्म-निर्जरा बढ़ाती है। **पश्चात्ताप न करें**—दान देकर पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। संत कम ले फिर भी—'क्या लिया। कुछ भी नहीं लिया'—इस प्रकार शिकायत न करें। **कृतज्ञता ज्ञापित करें**—संयती दान की एक बात व्यवहार जगत से एकदम विपरीत है। वह यह कि

इसमें लेने वाले से देने वाला उपकृत होता है। संयती दान का लाभ किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। इसलिए दान देकर संतों के प्रति कृतज्ञ बनें और इस प्रकार कृतज्ञता ज्ञापित करें—'बड़ी कृपा करी। चावना (आवश्यकता) हो तो और कृपा करें।' **विनम्र भाव से दें**—दान देते समय पात्र के प्रति विनम्र भाव होना चाहिए। सुपात्र का बहुमान और साधना की अनुमोदना करनी चाहिए। **विवेक से दें**—दान देते समय हड़बड़ाएं नहीं। धैर्य रखें। ऐसा न हो कि पात्र भर जाए और देय पदार्थ नीचे गिरने लगे या झोली और वस्त्रों पर लग जाए। **दुराग्रह न करें**—संतों को दान देने का तात्पर्य उनके संयम में सहयोग देना होता है। इसलिए साधना और स्वास्थ्य के बाधक पदार्थ तथा मात्रा से अधिक पदार्थ के लिए दुराग्रह नहीं करना चाहिए। निवेदन करना अच्छी बात है, परंतु जबरदस्ती पात्र में डाल देना या न लेने पर नाराज हो जाना कदापि काम्य नहीं है। **भावुकता में न बहें**—यह सच है कि संतों के प्रति श्रमणोपासकों की अटूट श्रद्धा होती है, परंतु इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि भगवान महावीर ने मात्र श्रद्धा को नहीं, सम्यक् श्रद्धा को मोक्ष मार्ग बतलाया है। जब व्यक्ति की श्रद्धा कृत्याकृत्य के विवेक को छोड़ कर भावुकता में बहने लगती है, तो दान का लक्ष्य केवल आवश्यकता की पूर्ति करना हो जाता है और दान की शुद्धता गौण हो जाती है। इस प्रकार देय वस्तु के शुद्ध-अशुद्ध होने की उपेक्षा करते हुए भावुकतावश दिया दान एक घाटे का सौदा सिद्ध होता है। **व्यर्थ पदार्थ न दें**—संतों को दान देने का लक्ष्य उनकी साधना में सहयोग देना होता है, किंतु यदि व्यर्थ वस्तुएं आग्रहपूर्वक पात्र में डाल दी जाती हैं, तो स्वास्थ्य और साधना, दोनों पर प्रतिकूल असर पड़ता है। अतः यह ध्यान रखना जरूरी है। **अस्वच्छता न रखें**—स्वच्छता पर विशेष सावधानी रखें। छोटे बच्चे का हाथ मुंह या नाक में डालने के कारण या गंदी वस्तु छूने के कारण यदि हाथ अस्वच्छ रहते हों, तो उनके हाथ से खाद्य पदार्थों का स्पर्श करा कर देने का प्रयास न करें। खाज-खुजली या अन्य किसी बीमारी की अवस्था में भी यदि हाथ सम्यक् प्रकार से स्वच्छ न हों तो खाद्य पदार्थों को स्पर्श न करें। क्योंकि इस प्रकार की अस्वच्छता से यदि कोई संक्रमण फैल जाए तो उस दान से अनेक समस्याएं पैदा हो सकती हैं।

अनेक बार दिए गए आहार में लट, इल्ली, मक्खी, बाल आदि निकल आते हैं। यह संतों के लिए शारीरिक और मानसिक समस्या पैदा कर सकते हैं। यह दाता की जागरूकता की कमी को भी दरसाता है। अतः दान देते समय बहुत जागरूकता की आवश्यकता होती है। उपरोक्त बिंदुओं पर ध्यान देने से दान विवेक, शुद्ध भावना और सम्यक् विधि से युक्त होता है। इन सबको जानकर प्रत्येक श्रमणोपासक को सदा जागरूक रहते हुए दान का लाभ उठाना चाहिए। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **जैन भारती** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **जैन भारती** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती
पढ़ें, सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

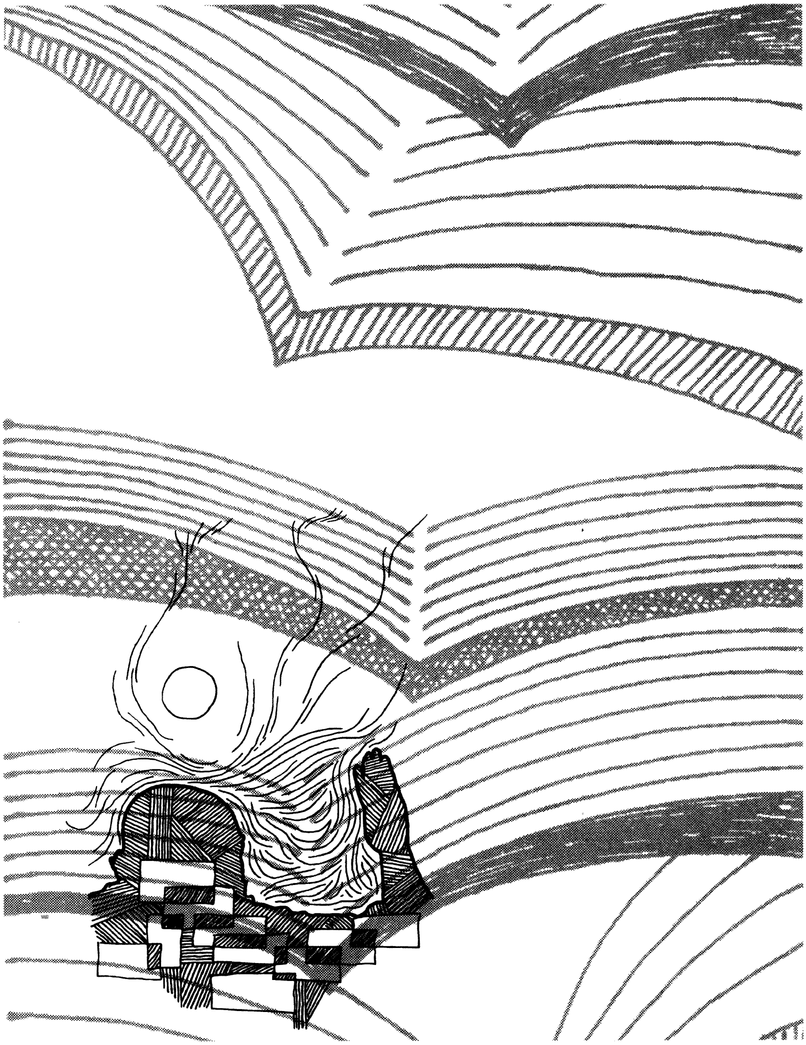

अनुभूति

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय रोगों का मूल कारण है—अविश्वास और भय। यदि हम परिस्थिति को बदलना चाहते हैं तो अविश्वास और भय के कारणों को दूर करना चाहिए। हो सकता है कि यह एक दुष्चक्र हो, परंतु हमें इसको कहीं-न-कहीं से भेदना ही चाहिए। कम-से-कम ऐसे कार्यों को तो रोकना ही होगा, जो अविश्वास और भय को कम करने के स्थान पर उनमें वृद्धि करें।

—सी. राजगोपालाचारी

तपस्या के द्वारा कर्मों के अलग होने से आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है—वह निर्जरा है। आर्हत वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में भी एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ—भंते! तप से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—तवेणं वोदाणं जणयइ—तप से वह व्यवदान को प्राप्त करता है।

जैन साधना पद्धति में आश्रव को कर्मबंध और संसार का हेतु माना गया है और संवर को मोक्ष का हेतु माना गया है। परंतु, यह ध्यान देने की बात है कि संवर के साथ निर्जरा का होना अनिवार्य है और निर्जरा के साथ मोक्ष जुड़ा हुआ है। निर्जरा के बिना मोक्ष नहीं मिलता। संवर नए सिरे से कर्मों के आगमन को रोकता है, किंतु जो गंदगी पहले से जमा है, उसका शोधन करना अथवा पूर्वार्जित कर्मों के संचय को क्षीण करने का कार्य एकमात्र निर्जरा से ही संभव हो सकता है।

कर्म निर्जरा : आत्मा की निर्मलता के लिए

युवाचार्यश्री महाश्रमण

जैन वाङ्मय में एक प्रचलित शब्द है—निर्जरा। जैन तत्त्वविद्या में निर्जरा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्जरा का अर्थ है—व्यवदान—यानी दूर हो जाना। जो कर्म आत्मा के साथ घुले-मिले हैं—निर्जरा से वे कुछ-कुछ आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस अलग होने का नाम ही व्यवदान या निर्जरा है। व्यवदान—कार्य है और उसका कारण है—तप। गुरुदेवश्री तुलसी द्वारा विरचित—'जैन सिद्धांत दीपिका' में कहा गया है—**तपसा कर्मविच्छेदा-दात्मनैर्मल्यं निर्जरा**—तपस्या के द्वारा कर्मों के अलग होने से आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है—वह निर्जरा है। आर्हत वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में भी एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—**तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ**—भंते! तप से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**तवेणं वोदाणं जणयइ**—तप से वह व्यवदान को प्राप्त करता है।

(जैन साधना पद्धति में आश्रव को कर्मबंध और संसार का हेतु माना गया है और संवर को मोक्ष का हेतु माना गया है। परंतु, यह ध्यान देने की बात है कि संवर के साथ निर्जरा का होना अनिवार्य है और निर्जरा के साथ मोक्ष जुड़ा हुआ है। निर्जरा के बिना मोक्ष नहीं मिलता। संवर नए सिरे से कर्मों के आगमन को रोकता है, किंतु जो गंदगी पहले से जमा है, उसका शोधन करना अथवा पूर्वार्जित कर्मों के संचय को क्षीण करने का कार्य एकमात्र निर्जरा से ही संभव हो सकता है।)

तप के बारह प्रकार बताए गए हैं। वे सभी आचरणीय हैं। साधक के लिए तो तप करना नितांत आवश्यक है। साधु का धन तपस्या है। आचार्य हेमचंद्र ने—'अभिधान चिंतामणि'—नामक संस्कृत शब्दकोश में साधु का धन तप, योग, शम बताया है—**स्वं तपोयोगशमादयः**—ये साधक के विशेषण भी हो सकते हैं और नाम भी हो सकते हैं। साधु को तपोधन कहा जाता है। उसके पास तपस्या का

धन होना ही चाहिए। जिस मुनि के पास तपस्या का धन जितना अधिक होता है, वह उतना ही धनाढ्य होता है। हम धनाढ्य बने रहें, एतदर्थ तपस्या की आराधना अपेक्षित है।

तपस्या शब्द कहते हुए सामान्यतया उपवास, बेला आदि की ओर ध्यान जाता है। यह तप का पहला प्रकार है। एक-दो दिन नहीं खाना सबके लिए सामान्य बात नहीं है। जब एक दिन में भी आदमी चार-पांच बार खा लेता है—ऐसी स्थिति में न खाना एक साधना है।

तप का दूसरा प्रकार है—ऊनोदरी। उपवास आदि तपस्या सभी न भी कर सकें, किंतु ऊनोदरी एक ऐसा तप है, जिसे वृद्ध व्यक्ति भी कर सकता है, जवान भी कर सकता है और कुछ अंशों में बालक भी कर सकता है। हम ऊनोदरी शब्द की शल्य-चिकित्सा करें। किसी शब्द के गहरे ज्ञान के लिए उसकी शल्य चिकित्सा करके देखना चाहिए। हमारे शरीर के भीतर क्या है—इसे जानने के लिए 'एक्स-रे', 'सोनोग्राफी' या 'एम.आर.आई.'— से देखा जाए, तो शरीर के भीतर की स्थिति का अवबोध हो सकता है। इसी तरह शब्द के भीतरी स्वरूप को जानने के लिए, उसमें अंतर्निहित अर्थ का साक्षात्कार करने के लिए शब्द की शल्य चिकित्सा भी सहायक बनती है। ऊनोदरी में दो शब्द हैं—'ऊन' और 'उदरी'। 'ऊन' अर्थात् कम और 'उदरी' अर्थात् पेट। जिससे पेट हलका रहे, वह उपक्रम ऊनोदरी है। ऊनोदरी का दूसरा नाम 'अवमोदरिका' भी मिलता है। कम खाना बहुत अच्छी साधना है। ऊनोदरी का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए भी उपयुक्त है। जो लोग ज्यादा खाते हैं, उनके लिए अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा हो सकती हैं।

प्राचीन साहित्य में ऊनोदरी के दो प्रकार बताए गए हैं—'द्रव्य ऊनोदरी' और 'भाव ऊनोदरी'। द्रव्य ऊनोदरी के दो प्रकार हैं—'भक्तपान ऊनोदरी' और 'उपकरण ऊनोदरी'। खान-पान में संयम रखना भक्तपान ऊनोदरी है और कपड़ा आदि के प्रयोग में संयम रखना उपकरण ऊनोदरी है। एक साधु के लिए वांछनीय है कि वह उपकरणों का ज्यादा संग्रह न करे, अल्पोवधि बना रहे।

ऊनोदरी का दूसरा प्रकार—भाव ऊनोदरी है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमारे भावों के साथ जुड़ा हुआ साधना का यह एक प्रयोग है। इसके सात प्रकार बताए गए हैं—'अल्पक्रोध', 'अल्पमान', 'अल्पमाया', 'अल्पलोभ', 'अल्पशब्द', 'अल्पझंझा' और 'अल्पतुमम्'। द्रव्यों की ऊनोदरी करना लाभदायी है और उपकरणों की ऊनोदरी करना भी लाभदायी है। किंतु, इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—भाव अवमोदरिका। आदमी को गुस्सा आता है। अभ्यास के द्वारा उसे कम करने से क्रोध की ऊनोदरी हो जाती है। अहंकार को कम करने से मान ऊनोदरी हो जाती है। आदमी में यदा-कदा छलना का भाव आ जाता है, माया का प्रयोग हो जाता है। संकल्प के द्वारा माया न करने का अभ्यास करने से अल्पमाया या माया ऊनोदरी हो जाती है। लोभ को सीमित करने की साधना करना लोभ ऊनोदरी है।

भाव अवमोदरिका का पांचवां प्रकार है—अल्पशब्द अवमोदरिका। बोलने में ऊनोदरी करना, यानी कम बोला। कभी-कभी बड़े सम्मेलन होते हैं। उनमें वक्ताओं की सूची लंबी होती है और वक्ता लंबा बोलते भी हैं। तब संयोजक के सामने धर्मसंकट की स्थिति पैदा हो जाती है। वह समय-सीमा का अतिक्रमण नहीं करना चाहता और वक्ताओं को असंतुष्ट भी नहीं करना चाहता। इन दोनों—यानी समय और वक्ता के बीच की संकड़ी गली से संयोजक को गुजरना होता है। लंबा तब बोलना चाहिए, जब पास में समय हो और हमारा बोलना काम्य हो। जैसे—संवत्सरी महापर्व के दिन हमारे साधु-साध्वियां भले पांच घंटे बोले किंतु मर्यादा-महोत्सव के व्यस्त कार्यक्रम में यदि कोई लंबा बोलना शुरू कर दे—तो वह अवांछनीय हो जाता है। इसलिए जहां अपेक्षा हो, वहां बोलना चाहिए। जहां अपेक्षा न हो, वहां अभाषण अथवा वाणी का संयम कर लेना चाहिए। इस प्रकार शब्दों में सीमा रखना, शब्दों में अल्पीकरण करना शब्दों की ऊनोदरी है। अच्छा वक्ता वह होता है, जो अनपेक्षित बात नहीं बोलता और अपेक्षित होने पर भी उचित और 'प्वाइंट-टू-प्वाइंट' बोलता है। आदमी को जहां लगे कि अभी बोलने से कलह होने की संभावना है या बात बिगड़ने की संभावना है—वहां बिल्कुल मौन कर लेना चाहिए।

भाव अवमोदरिका का छठा प्रकार है—अल्पझंझा, यानी कलह में कमी। किसी बात को लेकर कलह हो जाए तो प्रयोग आदि के द्वारा उसे कम या शांत किया जा सकता है। कलह करने की वृत्ति पर नियंत्रण करने से अल्पझंझा नामक भाव ऊनोदरी हो जाती है।

ऊनोदरी का सातवां प्रकार बताया गया है—अल्पतुमम्। 'तूं' कहने में कमी करना। 'तूं' शब्द कहने के दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक 'तूं' बड़े प्रेम के साथ, श्रद्धा के साथ कहा जाता है—वह बुरा नहीं होता। भगवान को 'तूं' कहा जाता है। मां को भी 'तूं' के कहा जाता है। इस 'तूं' के साथ आत्मीयता होती है, इसलिए यह वांछनीय है। किंतु तिरस्कार की दृष्टि से या अवहेलना की दृष्टि से किसी को 'तूं' नहीं कहना चाहिए। यह ध्यान रखने से अल्पतुमम् भाव ऊनोदरी हो जाती है।

ऊनोदरी करने से क्या लाभ हो सकता है—इसको समझने के लिए प्राकृत साहित्य में एक सुंदर श्लोक प्राप्त होता है—

धम्मावासय जोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि।
णय इंदियप्पदोसयरी उमोदरितवो वुत्ती।।

ऊनोदरी करने से अनेक लाभ हैं। क्षमा, मुक्ति आदि दस धर्मों की साधना हो जाती है। सामायिक आदि आवश्यकों की आराधना होती है और योग, स्वाध्याय व इंद्रिय नियंत्रण में ऊनोदरी सहायक बनती है। क्षमा आदि धर्मों की साधना करने में भी ऊनोदरी सहायक बनती है। ऐसा-वैसा कुछ खा लेने पर हमारे आक्रोश में कुछ वृद्धि हो सकती है, कामोत्तेजना भी हो सकती है—इसलिए ऊनोदरी करनी चाहिए।

षडावश्यक में प्रतिक्रमण भी एक आवश्यक है, साधना है। सायंकालीन आहार यदि खूब अधिक कर लिया जाता है, तो फिर सूर्यास्त के बाद प्रतिक्रमण करते समय आलस्य आ सकता है, कि कौन उठ-बैठ कर प्रतिक्रमण करे—आराम से बैठे-बैठे ही कर लें। हमारे यहां प्रतिक्रमण करने की एक अलग विधि है। प्रतिक्रमण के दौरान कुछ उपक्रम खड़े-खड़े, कुछ बैठे-बैठे, तो कुछ विशेष मुद्राओं में किए जाते हैं। यदि प्रतिक्रमण विधिपूर्वक किया जाए तो कुछ आसन स्वतः ही हो जाते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ये क्रियाएं बड़ी लाभदायी हैं। ऊनोदरी तप की साधना प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों की आराधना में बड़ा निमित्त बनती हैं।

सम्यक् रूप से योग व स्वाध्याय करने के लिए भी ऊनोदरी आवश्यक है। इंद्रियों का संयम करने के लिए खाने का संयम आवश्यक है। आहार का संयम न होने से इंद्रियां अनियंत्रित हो सकती हैं, उच्छृंखल हो सकती हैं। इसलिए खाने का संयम जरूरी है। युवावस्था वाला एक साधु अतिमात्र-गरिष्ठ आहार करता है, तो उसके सामने इंद्रिय असंयम की समस्या पैदा हो सकती है। अतः आहार का विवेक और संयम वांछनीय है। आहार-संयम की दृष्टि से बार-बार विगय-वर्जन का अभ्यास किया जाना चाहिए। निर्विकृति की साधना संयम के लिए सहायक होती है। इन अनेक कारणों को सामने रख कर साधक को ऊनोदरी का अभ्यास करना चाहिए।

अवमोदरिका को बाह्य तप माना गया है। पर, मेरी दृष्टि से भाव अवमोदरिका आंतरिक साधना है। किंतु, सामान्य रूप से ऊनोदरी को बाह्य तप के अंतर्गत ही लिया गया है। भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता भी बाह्य तप के प्रकार हैं। आंतरिक तप के छह प्रकार बताए गए हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। विनयपूर्वक भक्ति करना भी तपस्या है। पूज्य व्यक्तियों का, बड़ों का सम्मान करना विनय है। विनय के प्रयोग से स्वयं के कर्मों की निर्जरा होती है। यदि किसी कारण से गुरु अप्रसन्न हो जाएं तो शिष्य विनयभक्ति के द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करे। कभी-कभी गुरु बहुत कड़ी दृष्टि कर लेते हैं। हमने गुरुदेव तुलसी को देखा, वे कभी-कभी किसी शिष्य के प्रति इतनी कड़ी दृष्टि कर लेते थे कि उसकी ओर प्रायः देखते तक नहीं थे। दूसरी ओर कुछ शिष्य भी ऐसे होते हैं कि बहुत विनयभाव के द्वारा गुरु को प्रसन्न कर लेते हैं। गुरु की कड़ी दृष्टि के पीछे उद्देश्य यही रहता है कि शिष्य का प्रमाद दूर हो जाए, उसकी कमजोरी दूर हो जाए। जिसको हमने गुरु रूप में स्वीकार कर लिया, उसके प्रति विशेष रूप से भक्ति और नम्रता का भाव होना ही चाहिए। न केवल गुरु के प्रति, बड़ों के प्रति भी सम्मान और आदर का भाव होना चाहिए। विनय से स्वयं का विकास होता है और कर्मों का निर्जरण होता है।

ध्यान करना भी तपस्या है। शरीर को स्थिर करना, मन को एकाग्र करना और अमन की स्थिति तक पहुंचने का प्रयास करना ध्यान की साधना है। यह भी कर्म-निर्जरा का एक सशक्त उपाय है। इस प्रकार कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या की आराधना आवश्यक है। तपस्या करने से व्यवदान होता है, कर्म कटते हैं और आत्मा निर्मल बन जाती है। ❖

'ऋषिराय' के उपनाम से विख्यात आचार्यश्री रायचंदजी की जीवन-पोथी के हर पृष्ठ पर गंभीरता, सूझ-बूझ और साहस का दर्शन किया जा सकता है। ऋषिराय ने तीस वर्षों तक संघ का सफल नेतृत्व किया और संघ को विकास की नई ऊंचाइयां दीं। संगठन का सफल नेतृत्व वही कर सकता है, जिसके जीवन में योग्यताओं का विकास हो। तेरापंथ में योग्यता ही सदा कसौटी रही है। योग्यता कभी उम्र की मोहताज नहीं होती है। आचार्यश्री रायचंदजी की योग्यताएं बचपन में ही प्रकट हो चुकी थीं। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। उनकी बुद्धि कुशाग्र और मेधा बहुत निर्मल थी। वे आचार और व्यवहार में बड़े निपुण और स्वभाव से विनम्र थे। निर्भीकता का गुण तो मानो उनकी नस-नस में व्याप्त था। साहस की लौ उनके जीवन में कभी मंद नहीं हुई। उनके जीवनवृत्त के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो उनकी निर्भयता, स्पष्टवादिता और साहस को उजागर करने वाले हैं।

ऋषिराय : जीवन की पोथी में गंभीरता, सूझ-बूझ और साहस का दर्शन

साध्वी मुदितयशा

अध्यात्म की यात्रा निष्ठा से प्रारंभ होती है। जिसके भीतर निष्ठा का दीप प्रज्वलित है, वह हजार प्रलोभनों के बीच भी अडिग रह सकता है। साधना के उच्च शिखर पर आरोहण वही कर सकता है जो लक्ष्य के प्रति निष्ठाशील हो।

तेरापंथ की ढाई शती की विकासयात्रा एक रोमांचभरी साहसिक यात्रा है। आरोह और अवरोहों के बीच साहस और संतुलन का सुंदर दस्तावेज है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो सौ पचास वर्ष पूर्व जो साहस भरी यात्रा प्रारंभ की थी, आस्था की धरती पर अध्यात्म का जो बीज बोया था, उसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने श्रम की बूंदों से सींचा, पल्लवित-पुष्पित किया और अनवरत गतिमान रखा। उसी पवित्र आचार्य परंपरा में एक नाम है—आचार्यश्री रायचंदजी। 'ऋषिराय' के उपनाम से विख्यात आचार्यश्री रायचंदजी की जीवन-पोथी के हर पृष्ठ पर गंभीरता, सूझ-बूझ और साहस का दर्शन किया जा सकता है। ऋषिराय ने तीस वर्षों तक संघ का सफल नेतृत्व किया और संघ को विकास की नई ऊंचाइयां दीं।

सफलता की कसौटी है योग्यता

संगठन का सफल नेतृत्व वही कर सकता है, जिसके जीवन में योग्यताओं का विकास हो। तेरापंथ में योग्यता ही सदा कसौटी रही है। योग्यता कभी उम्र की मोहताज नहीं होती है। आचार्यश्री रायचंदजी की योग्यताएं बचपन में ही प्रकट हो चुकी थीं। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर

ली। उनकी बुद्धि कुशाग्र और मेधा बहुत निर्मल थी। वे आचार और व्यवहार में बड़े निपुण और स्वभाव से विनम्र थे। निर्भीकता का गुण तो मानो उनकी नस-नस में व्याप्त था। साहस की लौ उनके जीवन में कभी मंद नहीं हुई। उनके जीवनवृत्त के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो उनकी निर्भयता, स्पष्टवादिता और साहस को उजागर करने वाले हैं।

आचार्यश्री भिक्षु के जीवन का संध्याकाल चल रहा था। सभी मुनिगण उनके उपपात में बैठे थे। आचार्यश्री भिक्षु ने सोचा कि मुनि रायचंद अभी बालक है, मेरा वियोग इसके कोमल मन को कहीं आहत न कर दे, इसलिए मुझे इसे प्रतिबोध देना चाहिए। भीखणजी ने कहा—'ब्रह्मचारी! तुम तो बुद्धिमान बालक हो और जानते हो कि साधक के जीवन में मोह एक बड़ी बाधा है। देखो! तुम ध्यान रखना कि मेरे प्रति किसी भी प्रकार का मोह तुम्हारे मन में कभी न आए।' बालमुनि रायचंदजी ने गुरु को आश्वस्त करते हुए कहा—'गुरुदेव! आप अपने जीवन को सार्थक बना रहे हैं, अपनी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं। फिर भला मैं मोह क्यों करूं?' इस कथन में बालमुनि की दृढ़ता प्रकट होती है। तभी तो उनके लिए कहा गया है—

रायचंद ब्रह्मचारी नै जाणो सीख दे सोभती।
तूं बालक छै बुद्धिमानो, मोह कीजै मती।।
ब्रह्मचारी कहै वाणी शुद्ध वच सुंदरु।
आप करो जन्म रो कल्याणो, हूं मोह किम करूं।।

—ऋषिराय सुजश 56/7,8

बालमुनि रायचंदजी को यद्यपि आचार्यश्री भिक्षु के पास मात्र अढ़ाई वर्ष ही रहने का अवसर मिला, लेकिन गुरु की पारखी नजरों से शिष्य की क्षमताएं अज्ञात नहीं रहीं। उन्होंने यहां तक कह दिया—'रायचंद तो भारमल का भार संभालने योग्य है।'

बुद्धि पुण्य गुण देखनै भिक्खू भाख्यो एम।
पट लायक दीसै प्रगट निमल निभावण नेम।।

—ऋषिराय सुजश 5/1

आचार्यश्री भिक्षु ने संघ का नेतृत्व अपने सुयोग्य शिष्य मुनि भारमलजी को सौंपा था। आचार्यश्री भारमलजी के मानस पटल पर प्रारंभ से ही मुनि रायचंदजी के व्यक्तित्व की छाप अंकित थी। कहा जाता है कि भारमलजी के समय संघ में मुनि हेमराजजी, खेतसीजी जैसे अनेक प्रभावशाली संत थे। चतुर्विध धर्मसंघ में उनके कर्तृत्व की सौरभ सर्वत्र व्याप्त थी। इस सबके बावजूद आचार्यश्री भारमलजी ने मुनि रायचंदजी को ही अपना उत्तराधिकारी चुना। उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का यह स्वयंभू साक्ष्य है।

ज्ञान और आचार का योग

सफल नेतृत्व वही कर सकता है, जिसमें ज्ञान, गांभीर्य और निर्मल आचार का योग हो। ज्ञान ही जीवन को प्रकाश से भरता है। जिसके पास ज्ञान का प्रकाश है, वह कभी गुमराह नहीं हो सकता। ज्ञान की रश्मियां उसके आचार को भी उद्भासित करती रहती हैं।

ऋषिराय की ज्ञानप्रवणता हर किसी के मन को आकृष्ट करने वाली थी। ऋषिराय ने मुनि अवस्था में ही आवश्यक, दसवैआलियं, उत्तराध्ययन और वृहत्कल्प—ये चारों आगम कंठस्थ कर लिए थे। उस काल में कंठस्थ करने की ही परंपरा थी। इसी क्रम में उन्होंने आगम बत्तीसी का भी पारायण अनेक बार किया था। तभी यह कहा गया—

च्यार सूत्र मूंहढ़े किया हो आवश्यक सुविधान।
दशवैकालिक दीपता हो उत्तराध्येन बृहत्कल्प जान।।
सूत्र बत्तीस वांच्या बलि हो अनेक बार सुविचार।
झीणी रहिस सूत्रां तणी हो तिण रो पूज तणै अतिप्यार।।

—ऋषिराय पंचढालियो 5/27,28

ज्ञान की रश्मियों को बटोरने में आचार्यश्री रायचंदजी जितने सजग थे, उतना ही वे अपनी आचारनिष्ठा के प्रति भी सजग थे और यह पक्ष भी उतना ही समुज्ज्वल था। एक

ऋषिराय : एक नजर

जन्म	: संवत 1847, बड़ी रावलियां
दीक्षा	: संवत 1857 (चैत्र पूर्णिमा), बड़ी रावलियां
युवाचार्य पद	: संवत 1877 (वैशाख कृष्णा नवमी), केलवा
आचार्य पद	: संवत 1878 (माघ कृष्णा नवमी), राजनगर
स्वर्गारोहण	: संवत 1908 (माघ कृष्णा चतुर्दशी) छोटी रावलियां

बार वे मारवाड़ के मांढ़ा ग्राम में पधारे। सायंकाल का समय था। अकस्मात् आकाश बादलों से घटाटोप हो गया। चारों ओर अंधेरा-सा छा गया। साधुगण आहार आदि कार्यों से निवृत्त भी नहीं हुए थे। तभी ऋषिराय पास ही के एक घर में गए और मेढ़ी पर चढ़ कर देखने लगे कि सूर्य कितना ऊंचा है? वह घर स्थानकवासी संप्रदाय के एक भाई का था। उन्होंने इसका कारण पूछा तो ऋषिराय ने कहा—'सूर्यास्त की आशंका हो गई थी।' उनके इस कथन पर उसी परिवार के एक भाई ने पूछ लिया—'यदि सूर्यास्त हो जाता तो?' ऋषिराय बोले—'यदि सूर्यास्त हो जाता तो आहार का परिष्ठापन करना पड़ता।' यह सुन कर वह परिवार स्तब्ध रह गया। आचार्यश्री रायचंदजी की निर्मल-नीति और आचारनिष्ठा से वह परिवार बहुत प्रभावित हुआ और पूरा परिवार ही तेरापंथी बन गया। कालांतर में उस परिवार से अनेक दीक्षाएं भी हुईं।

सारणा-वारणा : जरूरी है संगठन में

सफल नेतृत्व की कसौटी पर वही खरा उतरता है जो संगठन में सारणा और वारणा, दोनों का प्रयोग समान रूप से करता है। वृहत्कल्प भाष्य में उल्लेख आता है कि जिस प्रकार राज्य की चिंता न करने वाला राजा अपने राज्य को विनाश की ओर धकेल देता है, उसी प्रकार जो आचार्य गच्छ की सम्यक् रूप से सारणा-वारणा नहीं करता—वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

पर, आचार्यश्री रायचंदजी दोनों ही विधियों के विज्ञाता थे। उन्होंने संघनिष्ठ व्यक्तियों को भरपूर प्रोत्साहन दिया, तो अनुशासन की अवमानना करने वालों को प्रायश्चित्त भी दिया। वे योग्य व्यक्तियों को अपने विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करते थे, तो अयोग्य व्यक्तियों पर अपेक्षित नियंत्रण भी किया करते थे। नंदीसूत्र में संघ को महासमंदर की उपमा दी गई है। संघ में अनेक प्रकार की रुचि व भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता वाले व्यक्ति साधना करते हैं। कुछ मुनि ज्ञान की विशेष आराधना करते हैं, तो कुछ मुनि श्रुत की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले होते हैं। कुछ मुनि ध्यान की विशेष साधना करते हैं और ध्यान की गहराइयों में उतर कर सत्य को जानने का प्रयत्न करते हैं। ध्यानलब्धि से संपन्न ऐसे मुनि अपनी साधना के बल से संघ को दीर्घ और निष्ठापूर्ण जीवन प्रदान करते हैं। कुछ मुनि केवल सेवा-रुचि वाले होते हैं और वे सेवा के द्वारा गुरु, स्थविर, ग्लान आदि साधकों को आत्मसमाधि तक पहुंचाने में सहायक होते हैं और इसी के जरिए वे कर्म-निर्जरा करके अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं। कुछ मुनि तपस्वी होते हैं, वे तपस्या के द्वारा संघ की प्रभावना करते हैं। ऋषिराय के युग में तपस्या का उल्लेखनीय कीर्तिमान बना था।

अलग-अलग रुचियों और भिन्न-भिन्न साधना में रत साधकों की पर्याप्त सारणा-वारणा होते रहना जहां उनकी साधना में सहायक होता है, वहीं संघ के प्रवर्धमान होते रहने में भी इनकी महती भूमिका रहती है। हर आचार्य को इसका ध्यान प्रथमतः रखना होता है। तेरापंथ संघ के प्रत्येक आचार्य इस दिशा में हर समय सजग रहे हैं।

तप : एक कीर्तिमान

तेरापंथ धर्मसंघ में अनेक विशिष्ट तपस्याएं समय-समय पर होती रही हैं। इसी कड़ी में आठ छहमासी तप आचार्यश्री ऋषिराय के युग की एक विरल घटना है। ग्रीष्मकाल का समय था। आचार्यश्री रायचंदजी उदयपुर चातुर्मास से पूर्व मोखुंद्रा पधारे। उन्होंने संतों को प्रेरणा देते हुए कहा—'यदि कोई तपस्या करना चाहे, तो उन्हें यथासंभव अनुकूल व्यवस्था देने का विचार है।' गुरु के इन प्रेरक शब्दों ने चमत्कार का काम किया। तीन मुनि तत्काल तैयार हो गए। पानी और आछ का आगार रख कर छह मास की तपस्या का प्रत्याख्यान कर दिया। ऋषिराय ने तीनों संतों को क्रमशः कांकरोली, राजनगर तथा केलवा में चातुर्मास का निर्देश भी दिया। चातुर्मास सानंद संपन्न हो गया। तीनों मुनियों की भावना थी कि तपस्या की पूर्णाहुति आचार्यश्री के हाथ से ही हो। आचार्यश्री रायचंदजी ने तपस्वी मुनियों की भावनाओं को बहुमान दिया और उदयपुर से विहार कर वे कांकरोली पधारे। यहां मुनि पीथलजी को अपने हाथ से पारणा कराया। उसी दिन वे राजनगर पधारे और मुनि हीरजी को 186 दिनों की तथा केलवा पधार कर मुनि वर्धमानजी को 187 दिनों की तपस्या का पारणा करवाया।

इन तीनों मुनियों की एक साथ संपन्न हुई तपस्या से अन्य संतों के मन में भी प्रेरणा की किरण जगी। उसके पश्चात् ऋषिराय के कार्यकाल में पांच छहमासी तप हुए। ऋषिराय सुजश में छहमासी तप करने वाले सभी संतों का

नामोल्लेख है। कहा है—

वर्धमान पीथल मोती दीपजी कोदर शिवजी किया षट्मास।
बेबार छहमासी करी हीरजी ऋषिराय बरतारै विमास।।

—ऋषिराय सुजश 12/12

विकास का आधार : अनुशासन

संघ में विकास के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन जितना जरूरी है, अनुशासनहीनता की दिशा में बढ़ने वालों को रोकने के लिए उतना ही जरूरी है—कठोर अनुशासन। ऋषिराय एक अनुशासनप्रिय आचार्य थे। उन्होंने अनुशासन की अवज्ञा और उपेक्षा को कभी बर्दाश्त नहीं किया। एक साधक निरंतर साधना करता है। साधना के दौरान उससे अनेक भूलें भी हो सकती हैं, लेकिन जहां भूल को स्वीकार न करने का आग्रह पनपने लगता है, वहां छोटी-सी भूल भी बड़े अपराध का रूप धारण कर लेती है। कठोर नियंत्रण और कड़े अनुशासन की उसी समय जरूरत होती है, ताकि कोई छोटी-सी चिनगारी, बड़े दावानल का रूप ग्रहण न कर सके।

एक बार का प्रसंग है—एक मुनि आज्ञा लिए बिना ही किसी गृहस्थ के घर से सूई ले आया। आचार्यश्री ऋषिराय ने पूछताछ की तो उसने अपनी भूल को स्वीकार नहीं किया। वह आवेश में आकर बोला—'सूई ही तो लाया हूं, सोना-चांदी तो नहीं लाया हूं।' ऋषिराय ने समझाया—'देखो! वस्तु कभी छोटी या बड़ी नहीं होती। मूल बात है—अनुशासन के प्रति सम्मान की भावना।'—वह मुनि फिर भी शांत नहीं हुआ और आवेश में ही बोला—'फिर तो कल आप यह भी कह देंगे कि आज्ञा के बिना सांस कैसे लिया?'—ऋषिराय ने देखा अब यह उच्छृंखलता की हद को पार कर रहा है। अब इसका संघ में रहना उपयुक्त नहीं है। उन्होंने तत्काल उसका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया।

सारणा और वारणा, दोनों का योग संघ को दीर्घजीवी बनाता है। ऋषिराय के व्यक्तित्व में ये दोनों गुण मौजूद थे। उन्होंने अपनी प्रेरणा और अनुशासन-निष्ठा से संघ को दीर्घजीविता का वरदान दिया।

नई परंपराओं के सूत्रधार

सामान्य व्यक्ति प्रायः बनी-बनाई लकीरों पर चलने में ही जीवन की सार्थकता मानता है, लेकिन महापुरुष वे होते हैं, जो अपने कर्तृत्व से नई रेखाएं खींचते हैं और उनमें अपनी कल्पना के नए रंग भरते हैं। सामान्य व्यक्ति जहां परंपराओं का अनुसरण करके आत्मसंतुष्टि का अनुभव करता है, वहां महापुरुष नई परंपराओं का सूत्रपात करते हैं। आचार्यश्री रायचंदजी चिंतनशील थे। उनमें नई सोच और कुछ नया करने का साहस था। यही वजह थी कि उन्होंने अपने शासनकाल में कई नए निर्णय लिए और उनकी क्रियान्विति कर नई परंपराओं के सूत्रधार बन गए।

आलोयणा गुरु के पास हो

एक साधु साधना करता है, तो प्रमादवश अनेक भूलें भी उससे हो सकती हैं। वह प्रतिदिन उन भूलों की स्मृति करता है और प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरु के समक्ष आलोयणा निवेदन करता है। तेरापंथ धर्मसंघ में प्रारंभ से ही यह प्रथा चल रही है। आचार्यश्री ऋषिराय के समय तक छोटे साधु आलोयणा आचार्य के पास करते और बड़े साधु स्वतंत्र थे। वे इच्छा होती तो आचार्य के पास आलोयणा करते, अन्यथा स्वयं ही आलोयणा कर लेते थे। ऋषिराय को इस परंपरा में परिवर्तन की अपेक्षा महसूस हुई। उनका चिंतन रहा—'आलोयणा'—गुरु के समक्ष ही होनी चाहिए।

विक्रम संवत् 1884 का प्रसंग है। ऋषिराय मालवा प्रदेश की यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न कर पुर पधारे। वहां मुनि हेमराजजी पहले से ही विराज रहे थे। उनके मन में ऋषिराय के प्रति विशेष श्रद्धाभाव था। उन्होंने बड़े उल्लास के साथ पूज्यश्री की अगवानी की। फिर सायंकालीन प्रतिक्रमण हुआ और इस के पश्चात् अनेक संत आलोयणा के लिए आचार्यवर के चरणों में उपस्थित हुए। मुनि हेमराजजी ऋषिराय से दीक्षावृद्ध थे, अतः उन्होंने अपने स्थान पर स्वयं ही आलोयणा कर ली। यद्यपि उनकी यह प्रवृत्ति तत्समय में चल रही परंपरा के विरुद्ध नहीं थी, लेकिन ऋषिराय को इस परंपरा में परिवर्तन करना था। अतः परिवर्तन के लिए उन्होंने माध्यम बनाया मुनि हेमराजजी को। मुनि हेमराजजी संघ में वयोवृद्ध और अनुभवसिद्ध, प्रतिष्ठा प्राप्त संत थे। उनसे किसी कार्य की शुरुआत का अर्थ था कि संघ में आसानी से उसका हृदयंगम हो जाना।

आलोयणा के क्रम में जब मुनि जीतमलजी आगे आए तो आचार्यश्री ऋषिराय ने उनको संबोधित कर कहा—'मुनि हेमराजजी कहां हैं? उन्होंने आलोयणा किसके पास की?'—मुनि जीतमलजी ने कहा—'गुरुदेव! उन्होंने अपने स्थान पर स्वयं ही आलोयणा कर ली

है।'—ऋषिराय ने कहा—'जीतमल! मुनि हेमराजजी आलोयणा करने यहां न आएं तब तक तुझे चारों आहार का प्रत्याख्यान है।'—मुनि जीतमलजी ने विनम्र भाव से गुरु के आदेश को शिरोधार्य किया और तत्काल मुनि हेमराजजी के पास गए। उन्होंने मुनिश्री से पूछा—'आप आलोयणा करने आचार्यश्री के पास नहीं पधारे?'

मुनि हेमराजजी ने कहा—'यहीं पर अपने आप कर ली थी।' मुनि जीतमलजी बोले—'नहीं, आलोयणा तो आचार्य के पास ही होनी चाहिए।' मुनि हेमराजजी ने कहा—'तेरी इच्छा है तो अब से वहां पर कर लूंगा।' वे तत्काल ऋषिराय के पास गए और आलोयणा कर ली। उसके बाद वह एक परंपरा हो गई।

इसी तरह ऋषिराय के युग तक धर्मसंघ में तंबाकू सूंघने और उसे दांतों पर मलने का बहुत अधिक प्रचलन था। आचार्यश्री ऋषिराय इस प्रवृत्ति को साधु जीवन के अनुरूप नहीं मानते थे। उन्होंने नियम बना दिया कि जो साधु तंबाकू सूंघेगा तथा उसे दांतों पर मलेगा या खाएगा, उसे दूसरे दिन छह विगय का वर्जन करना होगा। समय की जरूरत को पहचानने की आचार्यप्रवर की यह एक ऐसी मिसाल है कि इससे कई प्रकार के व्यसनों पर नियंत्रण किया जा सका। इसीलिए नियम बना दिया, फलस्वरूप धीरे-धीरे तंबाकू का आकर्षण कम होता चला गया। इस प्रकार ऋषिराय ने संघहित को सर्वोपरि मान कर समय-समय पर अनेक नई मर्यादाओं और व्यवस्थाओं का प्रणयन किया।

प्रवचन कौशल और संघ प्रभावना

नेतृत्व की सफलता की एक बड़ी कसौटी है—वाक्-क्षमता और प्रवचन-कौशल। माना जाता है कि वाणी जादू का काम करती है। जिसकी वाणी में दूसरों को आकृष्ट करने की क्षमता होती है, वह किसी को भी अपना बना लेता है। इसमें भी गुरु-वाणी को सुन कर तो अनेक लोग अपनी समस्या का स्थाई समाधान पा लेते हैं। तत्त्वविद्या और अध्यात्मविद्या की अनेक रहस्यपूर्ण बातें सुन कर कुछ लोग सुलभबोधि बनते हैं तो किसी-किसी को सम्यक्त्व का प्रकाश भी प्राप्त हो जाता है। कोई त्याग की प्रेरणा प्राप्त कर श्रावक बन जाता है, तो किसी के मन में साधुत्व की दिशा में प्रस्थान का संकल्प भी पैदा हो जाता है।

आचार्यश्री ऋषिराय का वाक्-कौशल और प्रवचनशैली अद्भुत थी। उन्होंने यात्राओं के दौरान सैकड़ों लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया और संघ से जोड़ा। मालव यात्रा के समय ऋषिराय का झाबुआ में पधारना हुआ। वहां के नरेश और राजकुमार आचार्यप्रवर के संपर्क में आए और दोनों ही आचार्यश्री के प्रति श्रद्धाशील बन गए। बहुत बार वे ऋषिराय का व्याख्यान सुनने आते और एक श्रद्धावान श्रावक की भांति चरणों में बैठ जाते।

ऋषिराय की व्याख्यानकला बड़ी आकर्षक थी। उनको अनेक व्याख्यान कंठस्थ थे। वाणी में ओज और कंठों में माधुर्य था। प्रवचन के मध्य जब वे गीतों का संगान करते तो उनके स्वर आस-पास के गांवों में भी सुनाई देते। अपनी मुनि अवस्था से ही उन्होंने व्याख्यान देना प्रारंभ कर दिया था। चातुर्मास के समय प्रातःकालीन व्याख्यान आचार्यश्री भारमलजी देते और रात्रि के समय व्याख्यान देने तथा विशेष रूप से रामचरित्र के वाचन की जिम्मेदारी मुनि रायचंदजी पर रहती। व्याख्यान, लोगों की सार-संभाल तथा संघ के आंतरिक कार्यों में भी मुनि रायचंदजी आचार्यश्री भारमलजी के परम सहयोगी बन कर रहे। जयाचार्यश्री ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तुसुं मुख आगल राय ऋषीश्वर, बांचै सरस बखाणो।
संत सत्यां री सांभल करिवा, ऋषिराय अगवाणो।।

—ऋषिराय पंचढालियो 5/10

देशाटन और संघप्रभावना

संघ-प्रभावना का एक बड़ा निमित्त है—देशाटन। देशाटन करने से जहां अनेक स्थानों, संस्कृतियों और परंपराओं के बारे में जानकारी प्राप्त होती है, वहीं प्रकृति के सौंदर्य को भी निकटता से देखने का तथा प्रकृति के साथ जीने का अवसर भी मिलता है। 'वृहत्कल्प भाष्य' में देशाटन के संदर्भ में सुंदर वर्णन मिलता है। भाष्यकार ने देशदर्शन से होने वाली उपलब्धियों को रेखांकित करते हुए लिखा है—

दंसणसोही थिरकरण देस अइसेस जणवयपरिच्छा।
काउ सुयं दायव्वं अविणीयाणं विवेगो य।।

—वृहत्कल्प भाष्य गाथा 1226

देशाटन से सम्यक् दर्शन की विशुद्धि होती है। तीर्थंकरों और आचार्यों की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, कैवल्यभूमि, निर्वाणभूमि आदि ऐतिहासिक स्थलों को देखने से मुनि निःशंक बनता है। आचार्य यात्रा करते हैं तो अनेक नए लोग श्रद्धाशील बनते हैं, अनेक लोगों की श्रद्धा स्थिर

बनती है। आचार्यों के दर्शन, सेवा, प्रवचन श्रवण आदि से अनेक विशिष्ट उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। विभिन्न जनपदों के परीक्षण का अवसर मिलता है। कौनसा क्षेत्र कैसा है? आचार्य के चातुर्मास-योग्य अथवा शेषकालीन प्रवास के योग्य क्षेत्र कौनसा है? इन सबके बारे में ज्ञान होता है।

आचार्यश्री ऋषिराय की देशाटन में सहज रुचि थी। अनेक नए क्षेत्रों की यात्रा कर उन्होंने संघ की विशेष उद्भावना की। उनकी पहली यात्रा मालवा-मध्यप्रदेश में हुई। उस यात्रा के दौरान अनेक नए लोग धर्मानुरागी बने। अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ हुए। इनमें खचरोद, रतलाम, उज्जयिनी और बड़नगर के शास्त्रार्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्यश्री ऋषिराय की दूसरी यात्रा थली संभाग में हुई। थली प्रदेश में तेरापंथ के प्रसार का सघन प्रयास ऋषिराय के युग की एक बड़ी उपलब्धि है। आचार्य पद पर आसीन होते ही उन्होंने थली संभाग पर अपना ध्यान केंद्रित किया। मुनि स्वरूपचंदजी आदि पांच संतों को थली प्रदेश में भेजा। उनके प्रवास से थली प्रदेश में अच्छी जागृति आई। विक्रम संवत् 1887 का चातुर्मास भी थली प्रदेश को मिला। ऋषिराय ने उस वर्ष का चौमासा बीदासर में किया और उसी वर्ष अनेक क्षेत्रों में साधु-साध्वियों के भी चातुर्मास करवाए। इससे जो धर्मोद्योत हुआ, उसका 'ऋषिराय सुजश' में सुंदर वर्णन किया गया है।—

वर्ष सित्यासियै सुखकार हुयो धर्म उधोत अपार।
थमा थली देश में घाट च्यार तीर्थ तणां गहगाट।।

—ऋषिराय सुजश 9/10

ऋषिराय ने अपनी तीसरी यात्रा में गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ को विहार क्षेत्र बनाया। यह यात्रा पहली दो यात्राओं की अपेक्षा ज्यादा लंबी थी। संघीय प्रभावना और लोकोपकार की दृष्टि से भी यह यात्रा बहुत महत्त्वपूर्ण रही। अनेक नए क्षेत्र तैयार हुए। लोगों को जैन धर्म और तेरापंथ को जानने का अवसर मिला। आचार्यप्रवर कच्छ यात्रा के दौरान—'बेला'—क्षेत्र में पधारे। वहां टीकमजी डोसी ने सैकड़ों लोगों को तेरापंथी बनाया। उनके मन में तत्त्व-संबंधी शंकाएं थीं, आचार्यप्रवर के पदार्पण से उन लोगों की शंकाओं का समाधान हुआ। ऋषिराय ने तत्त्वविद्या-विषयक स्पष्टीकरण करके उनकी श्रद्धा को सुस्थिर बनाया। उनकी यात्राओं से जो जनोपकार हुआ, वह तेरापंथ के इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

आचार्यश्री रायचंदजी युवाचार्य के रूप में बहुत कम रहे, लेकिन 21 वर्षों के अपने मुनि-जीवन में उन्होंने अनुभवों की विपुल संपदा अर्जित कर ली थी। इसीलिए एक प्रभावी आचार्य के रूप में वे शीघ्र ही उभर कर सामने आ गए। वे एक कुशल लिपिकार भी थे। उन्होंने 'टब्बे' सहित भगवतीसूत्र का लेखन किया। उनके द्वारा लिखित भगवतीसूत्र की प्रति आज भी भंडार में सुरक्षित है। ऋषिराय ने लगभग इक्यावन वर्षों का संयम-जीवन जीया। तीस वर्षों का उनका आचार्यकाल भी बहुत प्रभावी रहा। संघ के सफल नेतृत्व के साथ-साथ निर्भीकता, विनम्रता, अनुशासनप्रियता, पापभीरुता, निस्पृहता, दूरदर्शिता आदि गुणों के कारण वे एक शिखर पुरुष बन कर देश और दुनिया में छा गए। ❖

आदमी के व्यक्तित्व में धर्म, विज्ञान, कला आदि के स्रोत अलग-अलग नहीं होते। इसमें इन सभी तरह की भावनाओं में एक निरंतरता रहती है। ये सब सम्मिलित रूप से आदमी के कार्यकलाप को प्रभावित करते हैं। आदमी अपनी सुविधा और समझ के लिए इन्हें अलग-अलग खंडों में बांट कर देखता है। इसीलिए महान दार्शनिकों और साहित्यकारों में विश्व दृष्टि (विज्ञान), नैतिक मूल्यबोध (धर्म) और भावनात्मक अभिव्यक्ति (कला)—सभी एक समग्रता में व्यक्त होते हैं। प्लेटो, गेटे, नीत्शे और इलियट जैसे बड़े दार्शनिक साहित्यकारों में यह निरंतरता स्पष्ट दिखाई देती है। भारत में तो सारा महान साहित्य धार्मिक साहित्य है, जिसमें विश्व दृष्टि और मूल्यबोध एकाकार हो गए हैं।

—सच्चिदानन्द सिन्हा

दुनिया में असंख्य वाद हैं, जो भिन्न-भिन्न विचारधारा पर अपना चिंतन करते हैं। वे विचार से समाज बनाते हैं, लेकिन जैन धर्म समाज को व्यक्ति में देखता है। हम देखते हैं कि जैन विचार ने मनुष्य को सबसे महान बना दिया। किसी भी हालत में वह व्यक्ति के गुण और उसके सामर्थ्य को समाप्त नहीं होने देता। यहां मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता सर्वोपरि है। वास्तव में यही स्थिति उसे अहं-ब्रह्मास्मी की ऊंचाइयों तक पहुंचाती है।

इक्कीसवीं शताब्दी जो आज चुनौती भरी है और जहां हिंसा का नंगा नाच हो रहा है, ऐसे चुनौती भरे हालातों में जैन दर्शन की झोली में एक संजीवनी है। इस संजीवनी का नाम है—अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह। ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। ये अलग नहीं हो सकते।

लोगों ने युद्ध करके हिंसा फैलाई, लेकिन क्या विजयश्री मिल सकी? हर लड़ाई के बाद इंसान शांति की तलाश में रहता है। हर युद्ध के बाद अयुद्ध और हर हिंसा के बाद अहिंसा—यह इंसान की खोज रही है।

अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह : एक संजीवनी

मुजफ्फर हुसैन

किसी भी धर्म को समय अपनी मर्यादा में नहीं बांध सका है और कोई भी सदी किसी धर्म विशेष की नहीं होती है, लेकिन आने वाले समय की कल्पना कोई करता है तो उसे मौजूदा परिस्थितियों पर विचार करना पड़ता है। समय का भी अपना एक धर्म है। इसलिए यदि धर्म का समय भी हमारे जीवन में आ जाए तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

जब संगठित मानव जाति किसी धर्म को अपना लेती है, तब हम देखते हैं कि धर्म दो भागों में बंट जाता है। इनमें एक तो कर्मकांड है और दूसरा—उसका दर्शन। दुनिया के सभी धर्मों में यह दोनों बातें देखने को मिलती हैं। हम यहां कर्मकांड के रूप में नहीं, बल्कि दर्शन के आधार पर यह कहना चाहेंगे कि इक्कीसवीं शताब्दी का धर्म जैन धर्म ही होगा। इसकी कल्पना किसी सामान्य आदमी ने नहीं की है, बल्कि बर्नार्डशॉ ने कहा कि यदि मेरा दूसरा जन्म हो तो मैं जैन धर्म में पैदा होना चाहता हूं। शॉ ने उक्त बात गांधीजी के पुत्र देवदास गांधी से कही थी। वे तो यहां तक कहते हैं कि दुनिया का पहला मजहब 'जैन' था और अंतिम मजहब भी 'जैन' ही होगा। बाल्टीमोर : यू एस एस : के दार्शनिक डाक्टर मोराइस का तो यहां तक कहना है कि यदि जैन धर्म को दुनिया ने अपनाया होता तो यह दुनिया बड़ी खूबसूरत होती। जस्टिस रानडे ने कहा कि ऋषभदेव, नेमीनाथ,

पार्श्वनाथ और भगवान महावीर—ये चार तीर्थंकर नहीं, बल्कि जीवन और चिंतन की चार दिशाएं हैं।

आखिर जैन धर्म में ऐसा क्या है? जैन दरअसल कोई धर्म नहीं है, यह जीवन जीने का दर्शन है। दर्शन ही नहीं, बल्कि संस्कृति, कला, संगीत एवं भाषा का भी यह एक संगम है। जैन तीर्थंकरों ने संस्कृत को न अपना कर पाली और प्राकृत को अपनाया। क्योंकि वे जैन दर्शन को विद्वानों तक सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि वह सामान्य आदमी तक पहुंचे और उसके जीवन का कल्याण करे।

दुनिया के सभी धर्मों ने अपने चिह्न तय किए—कुछ हथियारों के रूप में, तो कुछ आकाश में चमकने वाले चांद और सूरज के रूप में। पर, चौबीस तीर्थंकरों में एक भी ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता जिसके पास धनुष-बाण हो या फिर गदा अथवा त्रिशूल हो। हथियारों से लैस दुनिया के राजा अपनी शानो-शोकत से अपना दबदबा बनाए रखने में अपनी महानता समझते थे, लेकिन यहां तो प्रकृति के बने भोले पशु-पक्षी अथवा जलचर-प्राणी उन तीर्थंकरों के साथ हैं। जैन तीर्थंकर किसी को कष्ट नहीं देना चाहते। अपने पांव के बल पर उन्होंने सारी दुनिया को उलांघा और प्रकृति के भेद जानने की कोशिश की। रहने को घर नहीं, खाने की कोई स्थाई व्यवस्था नहीं, लेकिन दुनिया के कष्टों का निवारण करने के लिए अपनी साधना में कोई कमी नहीं आने दी।

दुनिया में असंख्य वाद हैं, जो भिन्न-भिन्न विचारधारा पर अपना चिंतन करते हैं। वे विचार से समाज बनाते हैं, लेकिन जैन धर्म समाज को व्यक्ति में देखता है। हम देखते हैं कि जैन विचार ने मनुष्य को सबसे महान बना दिया। किसी भी हालत में वह व्यक्ति के गुण और उसके सामर्थ्य को समाप्त नहीं होने देता। यहां मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता सर्वोपरि है। वास्तव में यही स्थिति उसे अहं-ब्रह्मास्मी की ऊंचाइयों तक पहुंचाती है।

इक्कीसवीं शताब्दी जो आज चुनौती भरी है और जहां हिंसा का नंगा नाच हो रहा है, ऐसे चुनौती भरे हालातों में जैन दर्शन की झोली में एक संजीवनी है। इस संजीवनी का नाम है—अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह। ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। ये अलग नहीं हो सकते।

लोगों ने युद्ध करके हिंसा फैलाई, लेकिन क्या विजयश्री मिल सकी? हर लड़ाई के बाद इंसान शांति की तलाश में रहता है। हर युद्ध के बाद अयुद्ध और हर हिंसा के बाद अहिंसा—यह इंसान की खोज रही है।

बीसवीं सदी ने अणु को तोड़ा और परमाणु ने चमत्कार कर डाला। जैन धर्म का भेदविज्ञान आत्मा और शरीर को अलग कर देने वाला बहुत पुराना विज्ञान है। आत्मा ही 'एटम' है, जो समस्त दुनिया में शक्ति का संचार करती है। भारतीय दर्शन में वसुदेव कुटुंब की कल्पना की गई है—जिसका आधार सह-अस्तित्व है। इसे सर्वधर्म समभाव की संज्ञा भी दी जाती है। यदि अध्यात्म के आधार पर इसका विचार करें तो हमें जैन दर्शन की ओर लौटना पड़ेगा। नागरिकता और राष्ट्रीयता इन दिनों हर देश के मानवी का आधार है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

साल भर की दौड़-धूप के बाद हरिहर ने पाया कि उसे जो मिला वह महंगा सौदा ही कहलाएगा। पर, उसने हिम्मत न हारी। उसने अंग्रेजी के एक-एक शब्द ही हूबहू वही हिज्जे करते हुए अस्पताल के मुखपत्र में अपने बच्चे के रोग पर छपे लेख की नकल अपने हाथ से करके रख ली। इसमें शिवकुमार और हरिहरनाथ और उनकी पत्नी और लड़कियों का नाम नहीं दिया हुआ था। वह उसने हाशिए पर अलग से लाल रोशनाई में लिख लिया। इसे और तमाम पुराने कागजों को लेकर वह एक बार फिर दिल्ली आया। इस बार वह अस्पताल नहीं गया। पंडित सुधाकर मिश्र के यहां गया जो कि अच्छे प्रभावशाली संसद सदस्य थे और स्वास्थ्यमंत्री पर असर डाल सकने वाले दो-तीन लोगों में गिने जाते थे।

ग्यारहवीं कहानी

रघुवीर सहाय

सभ्यता के इतिहास का वह चरम क्षण था। रूस और अमेरिका पृथ्वी के तल पर और उसके गर्भ में, सागर के अतल में और आकाश के अनंत में उपलब्ध संपत्ति का उपभोग करते हुए एक दिन एक-दूसरे के बराबर संपन्न हो गए थे। उन्होंने प्रतिद्वंद्विता के नियमों को छोड़ कर बराबरी के नियमों के अनुसार निश्चित किया कि वे परस्पर मित्र हैं, शत्रु नहीं। जैसा कि सारी दुनिया उन्हें मानती थी।

इससे एक संकट उत्पन्न हो गया। कोई समझ नहीं पा रहा था कि इसके बाद क्या होगा। खासतौर से वे तो बिल्कुल ही नहीं जानते थे कि जो अभी तक इन दोनों राष्ट्रों में से किसी एक के मित्र और दूसरे के शत्रु थे। ये तमाम अधनंगे और अधपेट आदमी अपने कष्टों का दोष इनमें से किसी एक पर डालते रहने के इतने आदी हो गए थे कि अब उनके लिए एकाएक यह कह पाना संभव नहीं हो रहा था कि दोनों ही एक समान दोषी हैं। इसके बजाय, जैसा कि बाद के इतिहासकारों ने लक्ष्य किया है, इन अधनंगे और अधपेट लोगों की बुद्धि में इस परिवर्तन का एक लंबा क्रम चला कि पहले के एक की जगह अब दो महाशक्तिशाली राष्ट्र उनके मित्र हैं।

यह क्रम लंबा था, तो कुछ इसलिए कि यह प्रतीति भयावह थी कि हमारे शत्रु से हमारा मित्र जा मिला है, कुछ इसलिए कि काफी समय दोनों नए मित्रों ने दुनिया के सारे अधनंगे और अधपेट लोगों का आपस में बंटवारा करने में लगा दिया। उतनी देर तक खासी गपड़चौथ मची रही, क्योंकि सभी अ.अ. समझ रहे थे कि दोनों नए मित्रों में खटपट हो रही है। जबकि यह खटपट नहीं खुसफुस थी।

भ्रांति के इसी दौर में भारत में अकाल पड़ा। भारत ने हस्बमामूल अमेरिका से अनाज मांगा, मगर अमेरिका अपना अनाज रूस को दे चुका था। रूस में कई साल से अकाल था, पर वह अभी तक अमेरिका से मांगता न था। इस बार उसने मांग लिया था और बराबरी के नाते उसे मिल गया था।

पर, जब भारतीय लोगों के भूखे मरने की खबर रूस पहुंची तो उसने भारत को अमेरिकी अनाज का एक हिस्सा दे दिया। अब भारत में वह अनाज खाया जाने लगा, जो

अमेरिका में उपजा और रूस में बोरीबंद हुआ था। बोरी भारत की ही थी।

इस स्थिति की बदौलत भ्रांति सचमुच बहुत भयंकर नहीं होने पायी। अधिसंख्य जन यह सोच कर सुस्थिर हो रहे कि अब भारत की विदेशनीति दृढ़तर है और हम किसी एक देश के मोहताज नहीं हैं और सचमुच स्वतंत्र हैं।

परंतु, अकाल निरंतर बना रहने पर जरूरी नहीं था कि स्वतंत्रता की यह सुखद भावना फैलाता रहे। अकाल निरंतर बना भी रहता तो अनाज तो निरंतर रूस से नहीं आता रहता। आखिर रूसियों को अपने देश में बनी चीजें भी तो निर्यात करनी थीं। सच तो यह है कि अकाल भारत में निरंतर ही रहता था, परंतु उसकी जानकारी लोगों को तभी हो पाती थी, जब अनाज आयात किया जाए। सिर्फ मौतों की संख्या से सिद्ध नहीं हो सकता था कि अकाल है। क्योंकि लोगों का स्वभाव धीरे-धीरे कम खाकर मरने का था; यह नहीं कि भूख हड़ताल कर के मरें। और, फिर मौतों के मामले में और भी कई गड़बड़ थे। अनेक कारणों से अनेक और कभी-कभी अनेक कारणों से एक मौत हुआ करती थी। उस समय हजार से ऊपर अदालती जांचें कितनी ही मौतों के ऊपर बैठी हुई थीं। एक-एक करके वे अपने नतीजे प्रकाशित करतीं। उनसे हर बार यही जाहिर होता कि सिवाय इसके कि मरा हुआ आदमी मर गया और कुछ सिद्ध करना असंभव है।

सरकार इस मानवीय दुरवस्था को ध्यान से देखती और सतर्क रहती। वह विश्व शांति की समर्थक थी। उसके दोनों समर्थक—रूस और अमेरिका—भी विश्व शांति के समर्थक थे। वास्तव में वे शांति के इतने समर्थक थे कि एक के किसी आदमी ने आज तक दूसरे के किसी आदमी को नहीं मारा था। मर तो लोग दूसरे ही देशों में रहे थे।

धैर्य से काम लेने का एक अच्छा परिणाम हुआ। रूस और अमेरिका के दृष्टांत का प्रभाव भारत में पड़ने का अवसर मिल सका और धीरे-धीरे सभी राजनीतिक दल जो कभी न कभी सरकार में शामिल होने के हकदार होते, आपस में भेदभाव भूल कर रूस और अमेरिका की तरह दोस्त होने लगे। सारे भेदभाव राजनीतिक दलों के परस्पर संबंधों से दूर होकर जन-साधारण में चले गए। इससे जन-साधारण में कोई खलबली नहीं मची। ये भेदभाव तो हजारों वर्षों से उनके जाने-पहचाने थे। एक जाति को दूसरी को मार डालने को तैयार होने में बहुत देर नहीं लगी, उसे केवल कुछ वर्षों की शिक्षा ही भुलानी थी। राजनीतिक प्रेक्षकों और टिप्पणीकारों को भी बस इतना ही कहना पड़ा कि हमारे देश में भेदमूलक तत्त्व हमेशा से रहे हैं और यह कथन बौद्धिक निरपेक्षता से ओत-प्रोत होने के कारण बहुत स्वीकृत भी हुआ। केवल पुलिस का काम बढ़ गया था, मंत्रियों की रक्षा के अतिरिक्त तमाम छोटे-मोटे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की रक्षा की जिम्मेदारी उस पर आ पड़ी थी। इनकी रक्षा की जरूरत तब पड़ती जब इनके प्रतिद्वंद्वी अधिक जनता को साथ लेकर इन पर धावा बोलते और इनके पास कम जनता होती। इस प्रकार पुलिस को जनता के साथ मिल कर जनता को मारने का एक नया अनुभव हुआ, जो कि अंग्रेजी-राज में कभी नहीं हुआ था। पर, उसका यहां विस्तार से वर्णन करने का इरादा नहीं है। बताने लायक तो वह एक विचित्र बात है जो एक दिन सहसा मालूम हुई।

एक दिन एक जवान आदमी जो न किसी के लेने में था न देने में, एकाएक मर गया। उसने कभी पुलिस का संरक्षण न मांगा था। कोई भीड़ उस पर चढ़ाई करने न आई थी। वह एक साहित्यकार था। वह खूब लिख चुका था और खूब नाम कमा चुका था। कुछ दिनों से वह एक नई रचना की उधेड़-बुन में था, जो उसके अब तक के कृतित्व से एकदम विशिष्ट होती। किसी को नहीं मालूम था कि वह क्या लिखना चाहता है। आलोचक इतना ही जानते थे कि इस बार उसके लिए लिखना और भी कठिन होने वाला है। तभी वह चल बसा।

यह अकेली मृत्यु नहीं थी। एक-एक करके और भी हुई। कोई कवि था, कोई कहानीकार, कोई नाटककार और कोई उपन्यासकार। सबमें समान गुण यह था कि वे अपने क्षेत्र में सफलता के शिखर पर चढ़ चुके थे और मानो वहां यों ही खड़े रहना उनके लिए दुष्कर था, सर के बल नीचे आ रहने के पहले ही वह मानो आकाश में लोप हो गए थे। उन दिनों की तुलना में जब बूढ़े-बूढ़े लोग या रूस या अमेरिका की साहित्य परिषदों में सम्मानित होने के कारण बिना कुछ नया लिखे भी शिखर पर देर तक खड़े रहा करते थे, यह अकेलापन कितना भयावह था।

सरकार चिंतित हो उठी। चिंतित रहना उसका स्वभाव ही था, पर इस बात से वह विशेष रूप से चिंतित थी। पाठकों की और साहित्य की क्षति तो हो ही रही थी—एक नई चुनौती का जवाब देकर दिखाने के ठीक पहले साहित्यकार मरते जा रहे थे—राज्य की भी क्षति हो रही

थी। आखिर सिर्फ चित्रकारों और पत्रकारों से तो किसी राज्य की प्रतिष्ठा नहीं बन सकती थी, इनमें से किसी की हठात् मृत्यु का होना सुनाई नहीं पड़ रहा था।

इन्हीं दिनों उत्तरप्रदेश के मानिकपुर गांव में एक अध्यापक रहता था, जो एक माध्यमिक विद्यालय में साहित्य पढ़ाता था। उसे 125 रुपया मासिक वेतन और 8 रुपया महंगाई भत्ता मिलता था। उसकी पांच संतानों में से एक, सात वर्ष का शिवकुमार पेट के दर्द का मरीज था। दो बरस का था, तभी से उसे महीने में एक बार दुःसह दर्द का दौरा पड़ा करता। वह तिलमिला कर रह जाता। दिन भर पेट पकड़े औंधे पड़े रह कर वह दूसरे दिन उठ बैठता। मां-बाप समझते अपच होगा। यह दौरा नियमित रूप से हर महीने पड़ता रहा। जब तक लड़का पांच बरस का हो, तब तक दौरा हर सप्ताह पड़ने लगा था। अध्यापक ने निकट के एलोपैथ डाक्टर का इलाज शुरू किया और साल भर तक जारी रखा—जैसा डाक्टर ने कहा था। साल भर में दर्द तो कम न हुआ, हां लड़के को दर्द के वक्त खाने वाली दवा की आदत पड़ गई। फिर कुछ महीने एक होम्योपैथ की दवा खा कर—जो कई हफ्ते तक तो सिर्फ एलोपैथी दवाओं के निराकरण के लिए दी गई थी—दर्द दूर करने के लिए नहीं, लड़का अपने बाप के साथ दिल्ली के बड़े अस्पताल में इलाज के लिए आया।

पहली बार दिल्ली देखने के कौतूहल से चमकता हुआ चेहरा लिए वह दर्द का अगला दौरा पड़ने के पहले ही अस्पताल पहुंच गया। अब उसे रोज दौरा पड़ता था, अलबत्ता वह रहता थोड़ी देर था। अस्पताल में तीन जगह नाम लिखाने और पर्ची बनवाने में जितना समय लगा, वह उसके निकट क्षणों में बीत गया। उसने इतने लोग एक साथ, इतनी चहलपहल कभी न देखी थी, भले ही वह बीमार लोगों की थी। अध्यापक हरिहरनाथ एक चादर में दो कपड़े और मांगे की दो किताबें लाए थे। वह आधुनिक साहित्य स्कूल में तो नहीं पढ़ाते थे, पर खुद पढ़ने के शौकीन थे। तीसरे पहर जब डाक्टर से भेंट की बारी आई तो उन्होंने किताब बंद करके लड़के को सोते से जगाया और डाक्टर साहब को एक नौजवान आदमी पाकर कुछ निराश और पांच बरस से बच्चे का कष्ट देखते-देखते कुछ हताश स्वर में रोग का वर्णन कर सुनाया। संयोग से ठीक उसी वक्त लड़के को दर्द उठा। हरिहरनाथ ने आशा से भर कर कहा—'देखिए देखिए, देख लीजिए डाक्टर साहब।'

डाक्टर विद्यार्थी था। उसने फौरन मरीज को अध्ययन-योग्य समझा और बड़े डाक्टर के पास भेज दिया।

दूसरे दिन बड़े डाक्टर से भेंट से पहले बाप-बेटे ने अस्पताल के बरामदे में रात बिताई। दोनों को एक महत्त्व का अनुभव हो रहा था—अध्यापक को यह कि बड़े डाक्टर के पास मामला जा रहा है, तो ऊंची चिकित्सा सरकार की तरफ से होगी और बच्चे को यह कि उसे एक नई जगह में एक दिन और रहने को मिला है।

बड़े डाक्टर ने कई प्रकार की जांच के लिए लड़के को भरती कर लिया। पिता तीन दिन अस्पताल के बरामदे में ही रहा। कितनी ही बेईमानी क्यों न हो अस्पताल से बच्चे को जो खाना मिलता था, वह इतना तो होता ही था कि दो के लिए काफी हो जाए और लड़का तो दर्द के मारे एक वक्त कुछ खा भी नहीं सकता था।

चौथे दिन जब खून, थूक, पेशाब की जांच हो ली, नुस्खा लिख दिया गया और अगले महीने फिर आकर दिखाने को कह दिया गया तो अध्यापक ने कह-सुन कर बच्चे को शाम तक अस्पताल में ही रखने की इजाजत ले ली और दिल्ली के बड़े-बड़े लेखकों से मिलने चला गया।

वह उनसे पहली बार मिल रहा था। वह उन्हें देखने को उत्सुक था। उनकी रचनाएं वह बराबर पढ़ता रहा था और अब तो बच्चे के इलाज के लिए फिर दिल्ली आना होगा, इसलिए वह चाहता था कि इस बीच वे जो कुछ लिखें, उसे पढ़ने को मिल जाया करे। जो हो, इस बार तो जो भी किताबें मिल सकीं, वह उन से मांग कर ले आया—इस वायदे के साथ कि महीने भर बाद निश्चय ही लौटा देगा।

एक महीने बाद उसने किताबें लौटा दीं। छोटे से घर में तेल और धुएं से उनका रंग कुछ बिगड़ गया था। पर, उन पर उसने एक-एक मोटा बादामी कागज चढ़ा लिया था और जो कुछ बिगड़ा था उसी मलट का बिगड़ा था। लेखक लोग चाहते तो किताब अलमारी में रखने के पहले उसे उतार कर फेंक देते।

बच्चे को इस बार सात दिन अस्पताल में रखा गया। रोग विचित्र था। शिशु विभाग के अध्यक्ष को भी दिखाया गया। उन्होंने अपने एक प्रिय शिष्य को विशेष रूप से इस रोग की पहचान के कुछ गुर बताए। वही दवाएं देते रहने को कह कर बाप-बेटे को विदा कर दिया गया। बच्चा ऊब चला था, मगर बाप चकित था कि उसके बेटे पर इतना ध्यान दिया जा रहा है।

अगले महीने जब हरिहर दिल्ली आया तो उसने एक लेखक से पढ़ने के लिए किताबें मांगते हुए उसे अपने बच्चे की यातना की कहानी भी सुनाई। बच्चे को अस्पताल की दवा से किंचित लाभ था—हरिहर को ऐसा ही कहना अच्छा लगता था। पर, दौरा उसे अब भी रोज पड़ता था। हां, नई दवा से वह पहले के मुकाबले जल्दी और कुछ अधिक खर्च में शांत हो जाया करता था। लेखक ने बच्चे को देखने की इच्छा प्रकट की। अस्पताल के बड़े डाक्टरों की जांच-पड़ताल खत्म होने पर घर वापस जाते हुए हरिहर बच्चे को लेखक के घर ले आया।

वह पांव में रबर की चप्पलें और खाकी नेकर पहने था। उसकी कमीज सफेद थी। वह उसके स्कूल की वर्दी थी। पर, और स्कूलों की तरह लकदक न होकर यह न जाने क्यों खौरही-सी दिखती थी। वर्दियां सभी स्कूलों में होती हैं, पर इससे यह तो नहीं होता कि सब वर्दियां एक-सी शानदार हो जाएं। स्कूल वह कुछ ही दिन जा सका था—रोज दर्द के कारण वहां रोता था, इसलिए घर बिठा दिया गया था—स्कूल में भरती के साथ-साथ वर्दी बनवानी लाजिमी थी, इसलिए वर्दी तो बन चुकी थी। वह उसकी सबसे अच्छी पोशाक थी—अस्पताल जाने के वक्त वही पहना दी जाती।

लेखक ने लड़के को प्यार किया और उसे बिस्कुट खाने को दिए। उन्होंने लड़के के चेहरे पर उसकी वेदना देखने के लिए उस पर नजर जमायी। लड़का झेंप गया। वह हंसा भी। उसी समय कोई देखता तो उसके चेहरे से कुछ समझ सकता था, अन्यथा वह इतना बोदा रह गया था कि दर्द भी उससे अदा न होता था।

पर, धीरे-धीरे वह होशियार हो चला। अस्पताल के कई तौर-तरीके वह जान गया। किसी बड़े आदमी के यहां मिलने को ले जाए जाने पर हर चीज के लिए ललचना नहीं चाहिए, यह तो वह डर के मारे जानता ही था। तरह-तरह के नुस्खों और प्रमाणपत्रों को भी वह पहचानने लगा, जो डाक्टरों ने समय-समय पर उसके रोग के संबंध में जारी किए थे। जब उसका पिता भूलने लगता तो वह ठीक कागज उठा कर दे दिया करता। और, वह कई बड़े-बड़े लेखकों को भी पहचान गया था, जिनके पास उसका पिता उसे ले जाया करता था।

रोग अच्छा होने नहीं आ रहा था। बड़े अस्पताल से भी बड़े, एक और अस्पताल में वह चार दिन के लिए भेजा जा चुका था। वहां के अध्यक्ष ने एक दिन हरिहर से एक ऐसी बात कही, जिसे सुन कर हरिहर को पूरी उम्मीद हो गई कि लड़का अच्छा हो जाएगा।

डाक्टर ने कहा—'मैं तुम्हारी और तुम्हारे घर के लोगों की जांच करना चाहता हूं। बच्चे का रोग पुश्तैनी जान पड़ता है और इस जांच से हम उसे अच्छी तरह पकड़ लेंगे।'

सारा परिवार दिल्ली आया। कहना कठिन है कि यह यात्रा बच्चे की मां के लिए अधिक रोमांचकारी थी, कि उसकी बहिनों के लिए। दोनों ही पहली बार घर से निकली थीं। अस्पताल में सबको रखा गया। अच्छी तरह दिल्ली घूमना नहीं हुआ, इस खेद को इस आशा के साथ मिलाए-जुलाए कि शिवकुमार का इलांज हो रहा है, वे गांव के घर में लौट गईं।

अध्यक्ष ने अपने तीन सहयोगियों के साथ, सबके नाम और पदों का उल्लेख करते हुए, एक विशेष लेख अस्पताल के मुखपत्र में लिखा। इसमें बताया गया था कि एक लड़के को तिल्ली के शोथ का रोग है और वह वंशानुगत है और यही नहीं, भारत में अपने किस्म का यह अकेला रोगी है। इसी कारण यह लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। विश्व में इस प्रकार के केवल दस रोगी और हैं। इसलिए यह लेख विश्वस्तर के शोध प्रबंधों में गिनने योग्य है।

हरिहर जानना चाहता था कि अब क्या होगा। डाक्टर ने कहा, कुछ नई दवाएं लिख दी गई हैं। इस रोग को जड़ से दूर करने की दवा तो विलायत के डाक्टर भी नहीं निकाल पाए हैं। दवा खिलाते रहो, अस्पताल में रखने की अब जरूरत नहीं।

परंतु, न मालूम क्यों यह बात हरिहर की समझ में न आई। जब उसका बच्चा संसार के ग्यारह गिने-चुने रोगियों में से है तो कोई इलाज तो अवश्य होना चाहिए। यह सोच कर वह उलझन में पड़ गया कि इतना विशिष्ट होने पर भी उसके बच्चे के रोग से अब डाक्टर क्यों उदासीन हैं। बच्चे को विकट यातना रोज मिलती थी—रोज की नई दवा का खर्च भी बड़ा था। दवाओं का दाम इसी बीच बढ़ भी गया था। अस्पताल में जितने दिन रहता, उतने दिन बच्चा मुफ्त दवा पाता, पर अब उसे अस्पताल में रखने का डाक्टरों के अनुसार कोई कारण ही न था।

साल भर की दौड़-धूप के बाद हरिहर ने पाया कि उसे जो मिला वह महंगा सौदा ही कहलाएगा। पर, उसने हिम्मत न हारी। उसने अंग्रेजी के एक-एक शब्द ही हूबहू वही हिज्जे करते हुए अस्पताल के मुखपत्र में अपने बच्चे के रोग पर छपे लेख की नकल अपने हाथ से करके रख ली। इसमें शिवकुमार और हरिहरनाथ और उनकी पत्नी और लड़कियों का नाम नहीं दिया हुआ था। वह उसने हाशिए पर अलग से लाल रोशनाई में लिख लिया। इसे और तमाम पुराने कागजों को लेकर वह एक बार फिर दिल्ली आया। इस बार वह अस्पताल नहीं गया। पंडित सुधाकर मिश्र के यहां गया जो कि अच्छे प्रभावशाली संसद सदस्य थे और स्वास्थ्यमंत्री पर असर डाल सकने वाले दो-तीन लोगों में गिने जाते थे।

मिश्रजी ने सब कहानी सुन कर पूछा—'चाहते क्या हो?'—हरिहर ने कहा—'पांच बरस से बच्चे का इलाज कराते-कराते मैं निर्धन हो गया हूं और शरीर जर्जर हो रहा है।'—मिश्रजी बोले—'यह तो ठीक है, पर तुम जो चाहते हो वह बताओ, तब मैं बताऊंगा कि वह मैं कुछ कर सकता हूं कि नहीं।'—हरिहर नहीं बता पाया। उसे एकाएक अंदाज नहीं मिल रहा था कि इनसे क्या करा देने के लिए कहूं, जब कि यह शायद सभी कुछ करा सकते हैं।

मिश्रजी ने उसे सोच में पड़े देख कर उसे एक और संसद सदस्य शुक्लजी का नाम बताया जो स्वास्थ्यमंत्री पर असर रखने वाले बाकी दो-तीन लोगों में से थे।

हरिहर शुक्लजी के घर गया। शुक्लजी बहुत व्यस्त थे। उन्होंने जल्दी से सब सुन कर कहा—'आप मिश्रजी से क्यों नहीं मिले?'—'उन्होंने ही आपके पास भेजा है।'—हरिहर से यह सुनकर शुक्लजी ने मिश्रजी से फोन मिलाया और पूछा—'क्या करना है इस आदमी के लिए?'—मिश्रजी ने कहा—'आप ही देख लें।'—शुक्लजी हरिहर से बोले—'कहो तो किसी अस्पताल को चिट्ठी लिख दूं?'—हरिहर फिर सोचने लगा। एक क्षण में सही अस्पताल का नाम बताना था। शुक्लजी बहुत जल्दी में थे। हरिहर हार कर बोला—'दिल्ली में नहीं हो सकता इलाज, डाक्टर यही कहते हैं।'

कहा नहीं जा सकता कि वह क्षण परोपकार का था या हड़बड़ी का, पर शुक्लजी ने कहा—'दिल्ली में नहीं तो देश में और कहीं बताओ...'—फिर थोड़ा सोच कर बोले—'देश में नहीं तो विदेश में ठीक हो सकता है तुम्हारा लड़का?'

हरिहर को एकाएक रोशनी दिखाई दी। दस और रोगी भी हैं विदेशों में। हो क्यों नहीं सकता... ?

शुक्लजी हरिहर को अपने सचिव के हवाले करके प्रधानमंत्री के यहां चले गए। जब किसी को नहीं मालूम होता कि वह कहां गए हैं तो सचिव यही कहता था कि प्रधानमंत्री के यहां गए हैं।

विदेश में इलाज कराने की बात कह कर शुक्लजी ने एक साथ कई काम कर डाले थे। अपनी प्रतिष्ठा को उन्होंने एकाएक साधारण सिफारिशों के स्तर से कहीं ऊंचा उठा दिया था और एक याचक को खाली हाथ लौटाने के बजाय एक बहुत बड़े संसार में भेज दिया था।

परंतु, कुछ दिन बाद हरिहरनाथ ने उतने बड़े संसार में दिन-रात एक करके उस पत्र का उत्तर स्वास्थ्यमंत्री के कार्यालय से लिखवा ही लिया, जो शुक्लजी ने वहां भेजा था। हरिहर बच्चे को गांव छोड़ कर दिल्ली आया और मंत्रालय के एक उपकार्यालय के हिलती कुर्सियों और तेलौस मेजों वाले एक कमरे में सवेरे से भूखा रह कर बैठा रहा। वह कोई विरोध नहीं कर रहा था, वह सिर्फ इंतजार कर रहा था कि कब बातें खत्म हों—जो चपरासियों, मुंशियों और आने-जाने वाले रिश्तेदारों में बराबर चल रही थीं और कब उसकी चिट्ठी निकाली जाए। जब वह निकली तो हरिहर दंग रह गया। एक सफेद कागज ने अब एक ग्रंथ का रूप ले लिया था। यह उसके लड़के के सब नुस्खों और जांच-पत्रों के बादामी पुलिंदे से कहीं बड़ा था।

मंत्रालय के किसी अवर सचिव के हस्ताक्षर से उसे जो पत्र मिला उसमें लिखा था—'आपके लड़के का इलाज विदेश में कहां हो सकता है, यह बताने की कृपा करें। यदि योग्य डाक्टर की सलाह है कि उसका इलाज विदेश में कराया जाए तो यह सलाह साथ में भेजें। यह भी बताएं कि इलाज पर अनुमानतः कितना खर्च आएगा।'

इस चिट्ठी का गौरव ही इतना अधिक था कि हरिहर को क्षणभर के लिए लगा कि उसका लड़का चंगा हो रहा है। यह पत्र हाथ में लेकर वह बड़े अस्पताल के अध्यक्ष के पास जा खड़ा हुआ।

अध्यक्ष ने पत्र पढ़ कर हरिहर को देखा। वह उसे

शब्दशः सर से पांव तक तो नहीं देख रहे थे, पर देख ऐसे ही रहे थे। उन्होंने कहा—'बच्चे की बीमारी के बहाने विदेश घूमना चाहते हो? मैं तो कह चुका हूं कि तिल्ली के इस शोथ का इलाज अभी कहीं नहीं निकला।'

हरिहर वापस आया। वह नहीं जानता था, क्या करे। यदि वह डाक्टर होता तो लाइलाज मर्ज का इलाज खोजने में लग जाता। एक क्षण के लिए उसके दिल में यह औपन्यासिक विचार आया भी कि वह सबकुछ छोड़ कर चिकित्सा विद्या पढ़े और स्वयं एक नया आविष्कार करके ग्यारहों शोथ-पीड़ितों को निरोग कर दे। पर, अपनी तनख्वाह और पांच बच्चों की याद आते ही वह फिर किसी ऐसे उपाय की खोज में लग गया जो साधारण आदमियों के करने योग्य होते हैं।

अब वह ऐसे किसी योग्य डाक्टर को खोज रहा था, जो यह लिख दे कि उसके लड़के का इलाज विदेश में हो सकता है। एक हितैषी से दूसरे के पास ऐसे डाक्टर का नाम पूछने जाते-जाते उसे नुस्खों का पुलिंदा एक बोझ लगने लगा। उसके चौपर्ते कागजात नम हो कर एक-दूसरे में चिपक गए थे और—'यह देखिए, यह रहा'—कहने के बाद उनकी परतें खोलने में ही इतना वक्त लगने लगा था कि देखने वाला विषय बदल दिया करता था। कई लोगों ने उसे कई नाम सुझाए। जिसको जिस आदमी की इज्जत बढ़ानी होती, वह उसका नाम हरिहर को बता देता। कोई-कोई किसी ऐसे आदमी का नाम बताते जिसे वे चुनौती देना चाहते हों। हरिहर ने नुस्खों को सुरक्षित रखने के लिए एक नामी आदमी के घर से चलते हुए एक पुराना लिफाफा मांगा था, कई लोगों ने तो पुलिंदे पर यह नाम देख कर उसे फिर उसी नामी आदमी के पास जाने की सलाह दी।

हरिहर ने एक रात स्वप्न में देखा—वह लंदन में आ गया है। अपने को सूट और टाई पहने वह कभी सोच भी नहीं सकता था। स्वप्न में भी वह टाई नहीं बांधे था, हां उसके तन पर एक नया और लंबा कोट था, गले में मफलर, पांव में मोजे के साथ जूते। शिवकुमार एक लाल-नीली बुनाई का स्वेटर पहने था और उसके हाथ में चमड़े का एक नया बैग था। वह अच्छा हो चुका था और बाप-बेटे दोनों पैदल देश वापस लौटने निकले थे···स्वप्न में ही उसे दिखा कि कई अन्य देशों के दस रोगी उससे मिलने आए हैं। एकाएक उनकी तैरती हुई अजनबी सूरतें उसे जानी-पहचानी लगने लगीं। तभी वह जाग पड़ा। क्या मैं इन लोगों को चिट्ठी लिखूं? लिखूं कि जब कभी तुम्हारे देश में कोई डाक्टर तुम्हारे इलाज का आविष्कार कर ले तब मुझे लिखना न भूलना···

दूसरे दिन उसने इस विचार में संशोधन किया। जगने के थोड़ी देर बाद तक तो उसे यह विचार सहज लग रहा था, परंतु दिन चढ़ते-चढ़ते वह पहाड़ जैसा हो गया था। उन दसों के पते खोजने के लिए उसे फिर बड़े अस्पताल जाना पड़ता और फिर शायद उन सबके पास, जिनके पास वह एक-एक, दो-दो बार हो आ चुका था।

उसकी जान-पहचान के लोगों की फेहरिस्त खत्म हो चुकी थी। उसने बिल्कुल अनजाने दो आदमियों को चिट्ठी लिख डाली। एक अमेरिका के राष्ट्रपति थे और दूसरे सोवियत संघ के प्रधानमंत्री।

हरिहर को कभी कोई जवाब नहीं मिला। दोनों सरकारों के कई विभागों से होता हुआ उसका पत्र दोनों के परराष्ट्र मंत्रालयों के सहायता-विभागों में पहुंचा। वहां से डाक्टरों की राय जानने के लिए गया और यह टिप्पणी नत्थी किए हुए लौटा कि—'भारत हमारा मित्र राष्ट्र है, हम वहां के एक गरीब आदमी को अपने यहां बुला कर उस पर असाध्य रोग की औषधि के अनुसंधान का प्रयोग करें—इसके पहले हमें समझ लेना चाहिए कि यदि रोगी प्रयोग के मध्य मर गया तो भारत में इस बात के राजनीतिक प्रभाव क्या होंगे? निश्चयपूर्वक कहना चाहिए कि बहुत अच्छे प्रभाव होने की आशा नहीं की जा सकती···दाखिल दफ्तर किया जाए।'

यह कहानी मैंने एक प्रसिद्ध और सफल लेखक को सुनाई। वह उन दिनों एक नये उपन्यास के कथानक और शैली से जूझ रहे थे, जिसका साहित्यजगत को इंतजार था। मैं उनकी सहसा मृत्यु के विचार से ही कांपता था। उन्होंने कहानी सुन कर कहा—'अहा, कितनी प्रतीकात्मक है।'—उत्तेजना हृदय के हित में नहीं है, पर अनजाने ही इस पर मैं गरम हो उठा। मैंने कहा—'हरिहर यथार्थ है, शिवकुमार यथार्थ है···'—उन्होंने कहा—'होगा, पर असाध्य रोग प्रतीकात्मक है।'—'नहीं', मैं चिल्लाया। मैंने मेज पर घूंसा मारा—'वह भी यथार्थ है—वह है और असाध्य नहीं है, वह···'

अकस्मात् सामने बैठा लेखक चौंका और कुर्सी पर लुढ़क गया। औरों की तरह वह भी अपनी कीर्ति के शिखर पर खड़े-खड़े सहसा खत्म हो गया था। ❖

वंशी माहेश्वरी की कविताएं

•

भागते-भागते
भाग कर जाना है
जहां पहुंचना है
वहां भी भागना है

भाग-दौड़
जीवन की सड़क पर बिछी है
चीजें, बाजार, पेड़, जगह, आकाश
सभी में
भागना समाया है

भागना
न ठहरता है
न ठिठकता है
अंतहीन है
अंत भी अपनी उम्मीदों की जड़ों से उखड़ जाता है

इस जगह से
उस जगह तक
मृत्यु से बचना
मृत्यु से भागना है।

•

पूरी-की-पूरी मृत्यु
किसी की नहीं होती
कुछ-न-कुछ जगह बची रहती है
मृत्यु में

उसे बचाए रखती है स्मृति
उसे बचाए रखती है मनुष्यता
उसे बचाए रखती है संभावना
उसे बचाए रखती है
उस के होने की जगह।

•

उस जगह से
उठ कर
चला गया मैं
जैसे विवाद से हट कर
उठ कर चले जाते हैं विचार

खाली जगह में
कोई और
अपनी जगह खाली कर
बना लेता है जगह
जैसे विचार न होने पर भी
आचार चलता रहता है सदा

घर से निकलते
और लौटते समय
रफ्तार और विस्तार की जगह छूट जाती है

इसी छूटी जगह में
मृत्यु
अपनी जगह बनाती है। ❖

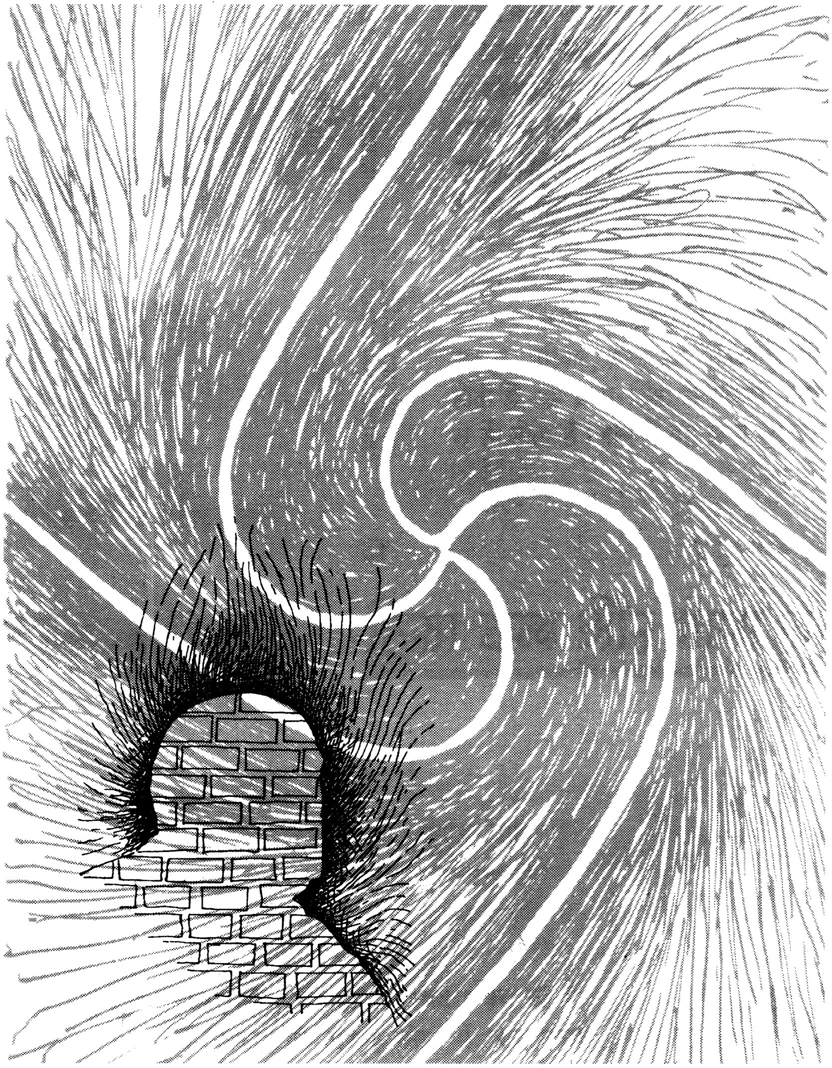

शीलन

शासनमुक्त समाज की रचना जब कभी दुनिया में होने वाली हो, तब हो। लेकिन, विद्यार्थियों के लिए उसकी रचना जरूर होनी चाहिए। विद्यार्थी का सबसे अधिक हक कोई है, तो वह आजादी प्राप्त करना है। इसलिए हमारे जो उत्तम गुरु थे, वे विद्यार्थी को उपदेश देते थे—

यानि अस्माकं सुचरितानि तानि
त्वयोपास्यानि, नो इतराणि

—जो हमारे अच्छे काम हों, उन पर आप पूरा अमल करो, जो हमारे अच्छे काम नहीं होंगे, उनका अनुकरण न करिएगा।

—आचार्य विनोबा भावे

सामुदायिक भाषा का स्वरूप उसके सांस्कृतिक दर्शन, शिक्षा दर्शन, राजनीतिक दर्शन के साथ आर्थिक दर्शन से निर्धारित होता है। राज-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो लोकतंत्र, साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, धर्मतंत्र के अंतर्गत समाज की भाषा का स्वरूप भिन्न-भिन्न होगा। भाषा लोक-व्यवहार से साहित्य-सृजन तक अपना विशेष महत्त्व समाज एवं मानवीय प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में रखती है। यही कारण है कि धर्मतंत्र की भाषा धर्म से प्रभावित होती है, जहां उसका स्वरूप कुछ अहिंसक होगा—भक्ति आंदोलन इसका ज्वलंत उदाहरण है। यदि रक्तहीन क्रांति के पूर्व इंग्लैंड के साहित्य को देखा जाए तो वह विध्वंसक गतिविधियों से भरा पड़ा है। भाषा का यह विध्वंसक स्वरूप हिंसा का प्रतिरूप है। क्योंकि जहां हृदय, भाव, विचार, समाज, परिवार, राष्ट्र और संबंधों के टूटने का वर्णन होता है—वहां भाषा में हिंसा होती है, जो द्रव्य-हिंसा से ज्यादा घातक होती है। क्योंकि हिंसा का उद्‌भव भाव से ही होता है। बाद में वह द्रव्य स्वरूप धारण करती है।

❑

हिंसा तत्त्व और भाषा संस्कार : एक विवेचन

❑❑

डा. सूरज राव

भाषा और मनुष्य के बीच शाश्वत संबंध रहे हैं। अपने विकास के प्रथम चरण में जब मानव विकसित हो रहा था, तभी उसके मस्तिष्क में विचारों का प्रवाह चलने लगा और संकेतों के रूप में संवाद का साधन बना। ये संकेत ही शब्द की उत्पत्ति के सहयोगी तत्त्व बने और इस मूक सृष्टि को व्यावहारिक रूप से गति प्रदान की। अंधकार में प्रकाश की भांति संपूर्ण मानव समुदाय को चेतना प्रदान करने वाले शब्द को शक्ति का स्वरूप माना गया, जो शाश्वत एवं नित्य है। संपूर्ण मानवीय व्यवस्था के केंद्र में वाणी का क्रियात्मक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। आदिम अवस्था के अकेलेपन से ऊब कर समुदाय व संगठन का विचार और समुदाय के संबंधों को संबोधन करने का साधन भाषा को बनाना मानव के लिए आवश्यक हो गया था। विकास की यह एक लंबी प्रक्रिया है, जिसे विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से समय-समय पर परिभाषित किया है।

भाषा मनुष्य की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक वाचिक माध्यम है। वाणी वक्ता के मुंह से ध्वनियों के रूप में व्यक्त होती है, किंतु यदि वह ध्वनियों के रूप में व्यक्त न भी हो और वक्ता के मानस में विचार के रूप में ही घुमड़ती रहे, तो वह भी भाषा ही है। इस प्रकार भाषा वह वाचिक व्यवस्था है, जो मौन रूप में तो मानसिक रूप लिए होती है और मुंह से व्यक्त होकर ध्वनि रूप में भौतिक रूप ग्रहण करती है। भाषा सामाजिक संपर्क के लिए एक वैयक्तिक कर्म है, क्योंकि यह सामाजिक संपर्क के लिए ही होती है। समाज एवं भाषा का समवेत संबंध उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार मानव सभ्यता एवं हिंसा का है। यदि तर्क-शास्त्र में वर्णित सत-प्रतिपक्ष के नियम को स्वीकारा जाए तो हिंसा के प्रतिपक्ष में अहिंसा का अस्तित्व मिलता है। विश्व के विभिन्न भागों में पल्लवित एवं पुष्पित होने वाली विभिन्न सभ्यताएं एवं संस्कृतियों के साथ धार्मिक

अवधारणाओं पर विहंगम दृष्टिपात करें तो मानव हिंसा एवं भाषा के सामूहिक विकसित स्वरूप सामने आते हैं।

मानव के विकास में जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका भाषा की मानी जाती है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका हिंसा की रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदि पाषाण युग से अर्वाचीन युग तक के उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर मानव की मूल प्रकृति हिंसक ही नजर आती है। पाषाण अस्त्र से वर्तमान मिसाइल-युग तक का सफर मानवीय प्रवृत्ति का ज्वलंत प्रमाण है। इस वैज्ञानिक युग में भी शस्त्र निर्माण को मानव सभ्यता की प्रगति का मापदंड माना जाता है।

मानव संस्कृति तथा हिंसा का समवेत संबंध है। क्योंकि यह सर्वविदित सत्य है कि संस्कृति-तत्त्वों तथा संस्कृति-संकुलों की वैशिष्ट्यपूर्ण योजना से संस्कृति का निर्माण होता है, परंतु यहां इस तथ्य पर विचार करना जरूरी हो जाता है कि मानव का संबंध पहले हिंसा से हुआ या भाषा से? आदिम अवस्था में मानव अपने भरण-पोषण हेतु हिंसा का प्रयोग करता था, जहां भाषा की स्थिति गौण थी। इस तरह मानव एवं हिंसा का संबंध तो सनातन काल से ही रहा है, पर भाषा का उद्भव बाद में हुआ है। पेट की अग्नि को शांत करने के लिए मानव मन में सर्वप्रथम हिंसा का भाव जाग्रत हुआ, बाद में विचार आए जो भाषा बन कर समाज में अवतरित हुए।

हिंसक शब्दों का व्यवहार में प्रयोग या भाषा के हिंसक स्वरूप के लिए संपूर्ण व्यवस्था उत्तरदायी होती है। सामुदायिक भाषा का स्वरूप उसके सांस्कृतिक दर्शन, शिक्षा दर्शन, राजनीतिक दर्शन के साथ आर्थिक दर्शन से निर्धारित होता है। राज-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो लोकतंत्र, साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, धर्मतंत्र के अंतर्गत समाज की भाषा का स्वरूप भिन्न-भिन्न होगा। भाषा लोक-व्यवहार से साहित्य-सृजन तक अपना विशेष महत्त्व समाज एवं मानवीय प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में रखती है। यही कारण है कि धर्मतंत्र की भाषा धर्म से प्रभावित होती है, जहां उसका स्वरूप कुछ अहिंसक होगा—भक्ति आंदोलन इसका ज्वलंत उदाहरण है। यदि रक्तहीन क्रांति के पूर्व इंग्लैंड के साहित्य को देखा जाए तो वह विध्वंसक गतिविधियों से भरा पड़ा है। भाषा का यह विध्वंसक स्वरूप हिंसा का प्रतिरूप है। क्योंकि जहां हृदय, भाव, विचार, समाज, परिवार, राष्ट्र और संबंधों के टूटने का वर्णन होता है—वहां भाषा में हिंसा होती है, जो द्रव्य-हिंसा से ज्यादा घातक होती है। क्योंकि हिंसा का उद्भव भाव से ही होता है। बाद में वह द्रव्य स्वरूप धारण करती है।

बारहवीं शताब्दी से मुगलकाल तक समाज एवं साहित्य की भाषा में हिंसक तत्त्वों की प्रधानता रही, जहां शब्द-व्यंजना और वक्रोक्ति का प्रयोग हिंसक रूप में हुआ। राजनीतिक व्यवस्था भाषा के स्वरूप को प्रभावित करती है। समाज की व्यवस्था जैसी होगी, भाषा भी उसके अनुरूप ही होगी। चाहे वह लोक-व्यवहार की भाषा हो या साहित्य की भाषा। अधिनायकवादी अंग्रेजों के काल का संपूर्ण साहित्य उत्पीड़न से भरा पड़ा है, जो कि उस समय की प्रमुख विशेषता थी, जो भाषा के हिंसक स्वरूप में साहित्य का विषय बनी। आज भारत संघ की राजव्यवस्था जनवादी व्यवस्था है, परंतु यहां भी लोकतंत्र की आड़ में पूंजीवाद पनप रहा है। स्वतंत्रता के साठ-बासठ वर्षों बाद भी व्यक्ति आधारभूत सुविधाओं से वंचित है। गरीब एवं अमीर की खाई दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। सामाजिक अव्यवस्था व्याप्त है और सामुदायिक भाषा का स्वरूप भी उसके सांस्कृतिक दर्शन, शिक्षा दर्शन, राजनीतिक दर्शन के साथ आर्थिक दर्शन से प्रभावित होता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो लोकतंत्र, साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, धर्मतंत्र के अंतर्गत समाज एवं समाज की भाषा का स्वरूप भिन्न है।

लोक-व्यवहार की भाषा एवं साहित्य की भाषा पर राजनीतिक प्रभाव के साथ मानव प्रकृति का विशेष प्रभाव पड़ता है। विकासवादी सिद्धांतवेत्ता एवं वर्ग-संघर्ष के विचार मानव की मूल प्रकृति को हिंसक मानते हैं। समाज शास्त्रानुसार व्यक्ति के दस शीलगुण माने गए हैं, जिसमें मुख्य गुण 'आधिपत्य' को माना गया। वह दूसरों पर अधिकार जमाने का प्रयास करता है। आक्रमणशीलता, स्पर्द्धा एवं डाह के साथ मानव का प्रतियोगी स्वभाव, समाज में हिंसा का जनक माना गया है।

आज मानव मन एवं मस्तिष्क से अति विकसित हो गया है, परंतु अपनी मूल प्रकृति को बदलने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाया है। अलबत्ता देशकाल परिस्थितिनुसार भाषा में हिंसा का स्वरूप बदलता रहा है। हिंसा शब्द की मीमांसा भी होने लगी, मगर मानव के भाव एवं भाषा में हिंसक तत्त्व बराबर मिलते रहे हैं। धर्म-व्यवस्था व राज-व्यवस्था के दोष भाषा के माध्यम से मानव व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए दमन एवं आक्रोश के युग की भाषा का स्वरूप कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता। आज का साहित्य अव्यवस्थाओं

के यथार्थ वर्णन से भरा पड़ा है, जहां मानवीय संवेदना की अपेक्षा मानव को जिंदा जलाने की बात सहज भाव से कह दी जाती है, जो भाषा के हिंसक स्वरूप को ही प्रकट करता है। जिस भाषा में समाज का यथार्थ वर्णन होगा, वह भाषा कभी भी अहिंसक नहीं हो सकती।

भाषा एवं हिंसा के वैचारिक मंथन से निष्पन्न इस दृष्टिकोण से यह तथ्य उजागर होता है कि हिंसा एवं भाषा का उद्भव एक ही केंद्र—मस्तिष्क से हुआ है। हिंसा का कारण उदराग्नि थी, वहीं भाषा का कारण लोक में व्यवहार था। वर्तमान की परिस्थितियों में भाषा के स्वरूप को अहिंसक बनाने के लिए समस्या के मूल में जाना होगा। मस्तिष्क के चिंतन को बदलना होगा। यद्यपि मानव की मूल प्रवृत्ति को बदलना कठिन है, तथापि यह पूर्णतः असंभव भी नहीं। संकल्प के साथ आगे बढ़ने और आचरण की प्रवृत्ति, प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव, सह-अस्तित्व के आदर्श के साथ धर्म एवं दर्शन का सूक्ष्म चिंतन तथा अध्यात्म के पथ का अनुगमन करना होगा।

आध्यात्मिकता ही मानव के व्यवहार को बदल सकती है और व्यवहार बदलेगा तो वाणी भी बदलेगी ही। वाणी बदलेगी तो विचार भी बदलेंगे और विचार बदलेंगे तो मस्तिष्क में सकारात्मक भाव-प्रवाह की धारा प्रवाहित होगी। ❖

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

संबोधन अलंकरण समारोह

श्रद्धेय आचार्यप्रवर जिन श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं के आधार पर विशेष संबोधनों से संबोधित करते हैं, उनको जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव के अवसर पर पूज्यप्रवरों की पावन सन्निधि में आयोजित विशेष कार्यक्रम में अलंकरण प्रदान कर सम्मानित करती है। गत कई वर्षों से उक्त अवसर पर महासभा द्वारा अलंकरण प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की सचित्र परिचय पुस्तिका भी प्रकाशित की जाती है।

संबोधन अलंकरण समारोह आगामी श्रीडूंगरगढ़ मर्यादा महोत्सव के अवसर पर माघ शुक्ला चतुर्थी, दिनांक 19 जनवरी, 2010 को प्रातः 9.30 बजे से पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में आयोजित है। इस अवसर पर एक मिलन गोष्ठी का आयोजन दिनांक 19 जनवरी को सायंकाल किया जा रहा है।

जनवरी, 2009 से दिसंबर, 2009 तक संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं अथवा उनके परिवारजनों से सादर निवेदन है कि जिन्होंने अब तक परिचय एवं फोटो महासभा कार्यालय में प्रेषित नहीं किया है, वे संबोधन प्राप्तकर्ता का परिचय दो फोटो सहित यथाशीघ्र महासभा प्रधान कार्यालय, कोलकाता के पते पर प्रेषित करने की व्यवस्था करें।

सभी संबोधन प्राप्तकर्ता महानुभाव एवं परिवारजन से उक्त आयोजन में सहभागिता हेतु सादर निवेदन।

अधिक जानकारी हेतु संपर्क करें—

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

फोन नं. (033) 22357956, 22343598 • फैक्स नं. (033) 22343666, मोबाइल नंबर : 9831218218

जसकरन चौपड़ा	**भंवरलाल सिंघी**	**बिनोद कुमार चोरड़िया**
अध्यक्ष	संयोजक	महामंत्री

पाश्चात्य परंपरा के तीन शब्द—द ट्रुथ, द गुड, द ब्यूटी का अनुवाद कविगुरु रवींद्रनाथ टैगोर ने 'सत्यं-शिवं-सुंदरं' के रूप में किया। इससे और गहराई में जाकर भारतीय मनीषियों ने लक्ष्य बनाया—सच्चिदानंद। सत्य, जो सत् है, तथ्य में जहां चेतना का समावेश हो जाता है—वह सत्य बन जाता है। शिव का तात्पर्य चेतना की खोज से है, चेतना ही शिव है और अबाधित आनंद का ही दूसरा नाम सुंदर है। बिना किसी शर्त के जो आनंद है—वही सुंदर है। रोटी भी न छूटे, सत्य भी न छूटे, संस्कृति की विकास यात्रा यही है। रोटी, कपड़ा और मकान हमारी सभ्यता है, अस्तित्व का आधार है। *सत्यं, शिवं, सुंदरं* हमारी संस्कृति है।

ज्ञातधर्मकथा में तत्कालीन संस्कृति के विविध रूपों का अनावरण हुआ है। विविध दृष्टांतों के माध्यम से उस युग के व्यक्ति, समाज व राष्ट्र से जुड़े अनेक रूप इसमें व्यक्त हुए हैं। लोक-संस्कृति को अपनाने के कारण ही ये दृष्टांत व कथाएं विशेष लोकप्रिय हुए।

ज्ञातधर्मकथा—विश्वास एवं मान्यताएं

समणी सत्यप्रज्ञा

संस्कृति ही हमारे जीने का ढंग है धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला उसके अंग हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए उद्देश्य की दिशा में गमन ही संस्कृति की विकास यात्रा है। सामान्य जीवन में रोटी, कपड़ा और मकान अस्तित्व के लिए हैं तथा सत्यं, शिवं, सुंदरं की खोज उद्देश्य के लिए है। अस्तित्व और उद्देश्य मिल कर ही जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। संस्कृति का स्वरूप विज्ञान की भांति मूर्त नहीं, अपितु अमूर्त होता है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश में मानव समाज द्वारा निर्मित साधन-सामग्री तथा संस्थाओं, रूढ़ियों, परंपराओं, विचार-सरणियों और जीवन मूल्यों आदि का समग्र योग है।

संस्कृति का इतिहास मानव इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। संस्कारों के द्वारा व्यक्ति और समाज गुणों को धारण करते हैं। युग-युग से विभिन्न लोकगत गुणों को धारण करने वाले समाज की संस्कारजन्य मान्यताओं को उस समाज की संस्कृति कहा जा सकता है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिंतन किया—साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्थाओं को विकसित किया—उन सब का समावेश संस्कृति में हो जाता है।

प्राचीनकाल में संस्कृति के लिए व्यापक, उदात्त और एक गौरवपूर्ण शब्द 'धर्म' प्रयुक्त होता रहा है। यह है—ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि। बदली हुई विचार परंपरा के साथ पाश्चात्य शब्द 'कल्चर' का अनुवाद 'संस्कृति' शब्द हो गया। संस्कृति की सिद्धि भाव, विचार व आचरण के विभिन्न आयामों में होती है।

पाश्चात्य परंपरा के तीन शब्द—द ट्रुथ, द गुड, द ब्यूटी का अनुवाद कविगुरु रवींद्रनाथ टैगोर ने 'सत्यं-शिवं-सुंदरं' के रूप में किया। इससे और गहराई में जाकर

भारतीय मनीषियों ने लक्ष्य बनाया—सच्चिदानंद। सत्य, जो सत् है, तथ्य में जहां चेतना का समावेश हो जाता है—वह सत्य बन जाता है। शिव का तात्पर्य चेतना की खोज से है, चेतना ही शिव है और अबाधित आनंद का ही दूसरा नाम सुंदर है। बिना किसी शर्त के जो आनंद है—वही सुंदर है। रोटी भी न छूटे, सत्य भी न छूटे, संस्कृति की विकास यात्रा यही है। रोटी, कपड़ा और मकान हमारी सभ्यता है, अस्तित्व का आधार है। **सत्यं, शिवं, सुंदरं** हमारी संस्कृति है।

ज्ञातधर्मकथा में तत्कालीन संस्कृति के विविध रूपों का अनावरण हुआ है। विविध दृष्टांतों के माध्यम से उस युग के व्यक्ति, समाज व राष्ट्र से जुड़े अनेक रूप इसमें व्यक्त हुए हैं। लोक-संस्कृति को अपनाने के कारण ही ये दृष्टांत व कथाएं विशेष लोकप्रिय हुए। संस्कृति से जुड़े ऐसे ही विश्वासों व मान्यताओं पर विचार यहां इष्ट है।

विश्वास-मान्यताएं

विश्वास और मान्यताएं हृदय की वे अवधारणाएं हैं, जिन्हें व्यक्ति बिना किसी तर्क के स्वीकार करता है। लोक-विश्वासों में शकुन संबंधी विचार गहराई से जुड़ा हुआ है। कार्य संपादन में शुभ-अशुभ, शकुन, समय, तिथि, ग्रह-नक्षत्र आदि का अपना प्रभाव होता है। शिक्षा प्रारंभ करने के लिए विशेष काल निर्धारित रहा है। शुभ तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त में कलाचार्य के पास बच्चे को ले जाया जाता। पांडुपुत्र पांडुसेन जब आठ वर्ष के हुए तब उन्हें कलाचार्य के पास ले जाया गया। शिक्षणकाल की समाप्ति के बाद प्रीतिदान के रूप में गुरु को वस्त्र, गंध, माला, अलंकार, जीविका योग्य विपुल द्रव्य प्रदान किया जाता। इसे एक तरह से गुरु-दक्षिणा कहा जा सकता है। मेघ ने कलाचार्य को विपुल प्रीतिदान प्रदान किया।[1]

ग्रह-नक्षत्र से जुड़े विश्वास

सूर्य आदि ग्रह का उच्च स्थान पर होना, दिशाओं का दिग्दाह आदि उपद्रव से रहित होना, सौम्य और निर्मल होना, पुष्य नक्षत्र का अनुकूल चंद्रमा के साथ योग होना, अश्विनी नक्षत्र का चंद्र के साथ योग होना ग्रह नक्षत्र की दृष्टि से शुभ माना गया है। ऐसे समय में ही मल्ली का गर्भागमन हुआ। जब काक आदि पक्षियों के शब्द शकुन भी विजयकारक थे। सुगंधित, प्रफुल्लित वातावरण हृदय को शांति, मन को स्वास्थ्य देने वाला होता है। प्रदक्षिणावर्त होकर बहती हवा सुरभित, मंद और शीतल होने से अनुकूल मानी गई। ऐसे शुभ संकेतों के साथ आने वाला प्राणी निश्चित ही अतिशय भाग्यशाली होगा—ऐसा माना जाता है।[2] विशेष अवसरों पर अभिषेक किए हुए हस्तीरत्न का उपयोग भी शुभ मान कर किया जाता।

समय से जुड़े विश्वास

विषम समय में दावानल, भृंगारक पक्षी का दीनतापूर्ण आक्रंदन, उत्तम वृक्ष पर आश्रित काक का कठोर व अनिष्ट कारक शब्द अशुभ माना गया।[3] ध्वनि- तरंगें वातावरण व व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। विशेष शुभ प्रसंगों पर (वीणा, भेरी, शंख)[4] आदि को शुभ शकुन के रूप में बजाया जाता रहा है। चौदह महास्वप्नों में शुभ शकुन मान स्वप्नदर्शन के बाद नींद से उठ कर जागरण को अधिक महत्त्व दिया गया।[5] शुभ स्वप्न के बाद सोना नहीं चाहिए, ऐसा विश्वास रहा।

देवायतनों से जुड़े विश्वास : मनौती मनाना

मनोरथ की सिद्धि के लिए मनौती मनाने की परंपरा रही है। नाग, शिव आदि देवायतनों पर जाकर पूजा की जाती।[6]

वृक्षों से जुड़े विश्वास

मनोकामना की सफलता में कुछ विशेष वृक्षों का भी मूल्य रहा है। चैत्यवृक्ष, शाल, पीपल व अशोक आदि वृक्षों का आध्यात्मिक मूल्य भी स्वीकार किया गया है। इनकी पूजा करने से मनोकामना को सफल करने में वृक्ष निमित्त माने गए हैं। इन वृक्षों को ज्ञान व बोधि के प्रतीक तथा आराधना व साधना के योग्य माना गया है। विशिष्ट योगियों का भी वृक्षों के साथ संबंध रहा है। अरिष्टनेमि बारवती नगरी में अशोक वृक्ष के नीचे ठहरते हैं।[7] दीक्षार्थ जाते मल्ली की शिविका को भी अशोक वृक्ष के नीचे ठहराया गया। वहीं मल्ली नीचे उतरे।[8] मल्ली को अशोक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ।[9]

दिशाओं से जुड़े विश्वास

प्रत्येक दिशा का अपना विशेष महत्त्व होता है। ज्ञातधर्मकथा में विविध कार्य-प्रसंगों के साथ विविध दिशाओं का चयन भी किया गया है। वास्तुशास्त्र की दृष्टि से भी दिशाबोध महत्त्वपूर्ण हैं। दिशाओं से जुड़े कुछ संकेत इस प्रकार हैं—उत्तरपूर्वदिग्भाग—ईशानकोण में निर्मित नागघर (यह स्थल दिव्य और कामनापूरक होता है) सबकी इच्छापूर्ति करने वाला होता है।[10] देव भी वैक्रिय समुद्घात

के लिए ईशानकोण का चयन करते थे। उत्तरवैक्रिय की विकुर्वणा करने के लिए शैलक यक्ष भी ईशानकोण में गया।[11] चैत्य आदि का निर्माण भी नगर के बाहर ईशानकोण में किया गया।[12] प्रव्रज्या के संकल्प का स्वीकरण भी ईशानकोण में हुआ।[13] नंद मणिकार ने बावड़ी आदि के निर्माण में दिग्वेत्ताओं द्वारा निर्दिष्ट स्थान का चयन किया।[14]

विशिष्ट विचार पुद्गलों के आकर्षण, नई सोच, नए चिंतन, नई जानकारी के लिए पूर्व दिशा का आलंबन लिए जाने का उल्लेख ज्ञातधर्मकथा में है। धारिणी के दोहदपूर्ति संबंधी उपायों की खोज हेतु चिंतन के लिए श्रेणिक पूर्वाभिमुख बैठे। उपस्थान शाला में श्रेणिक ने,[15] अनशन के लिए भी मेघ ने पूर्व-अभिमुखता स्वीकार की।[16] राजा रुक्मी पुष्पमंडप में,[17] मल्ली सिंहासन पर[18] पूर्वाभिमुख बैठे।

लक्षण और व्यंजन से जुड़े विश्वास

जो शरीर के साथ उत्पन्न हों—वे लक्षण और जो बाद में उत्पन्न हों—वे व्यंजन कहलाते हैं। शरीर की शुभ-अशुभ स्थिति को शरीरगत स्वस्तिक, चक्र आदि चिह्नरूप लक्षणों व मष, तिल आदि व्यंजनों से भी जाना जाता है। शरीर के मान, उन्मान, प्रमाण आदि भी लक्षण हैं। धारिणी के शरीर को—**लक्खण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्माण-प्पमाण-सुजाय**—लक्षण, व्यंजन के गुणों से युक्त मान-उन्मान-प्रमाण से सुजात बताया गया।[19]

तंत्र-मंत्र आदि से जुड़े विश्वास

किसी को उपलोभित करने के विविध तरीकों का संकेत ज्ञातधर्मकथा में मिलता है। चोर द्वारा बालक देवदत्त का अपहरण—उपलोभित कर ले जाने, प्रलोभन देकर उड़ा ले जाने की ही स्थिति थी।[20] तंत्र-मंत्र आदि को भी वशीकरण का साधन माना गया है। स्तंभनकारी चूर्णयोग, मंत्रयोग, कामणयोग औषध, मंत्र आदि के द्वारा सम्मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि कर्म,[21] हृदय को हरण करने वाले योग, वशीकरण, कौतुककर्म, सौभाग्य प्रदान करने वाले स्नान आदि, भभूत, सेल, कंद, छाल, बेल, शिलिका, गोली, औषध, भेषज आदि के माध्यम से इच्छापूर्ति का प्रयास किया जाता था। पोट्टिला व सुकुमालिका इन्हीं के आश्रय से प्रिय-प्राप्ति चाहती थी।[22]

भुजा पर त्रुटित पहनने के पीछे भी दृष्टिदोष के निवारण का विश्वास था।[23] बारहवीं बार सागरयात्रा न करने का भी सामान्य लोक-विश्वास था।[24]

इस प्रकार तंत्र-मंत्र पर आधारित विश्वासों का उल्लेख ज्ञातधर्मकथा में यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

मंगलभाव

व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माता विचार है। विचार के अनुरूप ही व्यवहार बनता है। इसीलिए कार्यसिद्धि के साथ विचार की बात जुड़ी हुई है। मंगल विधान के साथ-साथ मंगल भावों का भी बड़ा मूल्य है। किसी भी शुभ कार्य के मूल में शुभ विचार निहित होते हैं। ज्ञातधर्मकथा के अनेक प्रसंगों में इस सचाई का अवबोध किया जा सकता है।

प्रव्रज्या के लिए शुभ भावना

प्रव्रज्या के लिए अभिनिष्क्रमण करते हुए मेघकुमार, थावच्चापुत्र, पांडव, कंडरीक, पोट्टिला[25] के प्रति पारिवारिक-जन मंगलकामना करते हैं। जय-विजय के घोष के साथ उनके भविष्य के प्रति शुभ का संप्रेषण करते हैं। प्राणीमात्र के मंगल से जुड़ कर ये मंगल भावनाएं मर्मस्पर्शी हो गई हैं—'तुम प्राणीमात्र का उपकार करने जा रहे हो, सर्वोपकारी होने से तुम्हारा कल्याण हो, अवशीकृत इंद्रियों पर विजय प्राप्त करो, जीती हुई इंद्रियों की सब तरह से रक्षा करो। विघ्नों को जीतते हुए तुम श्रमण धर्म का पालन करो। सिद्धि के मध्य में शाश्वत निवास करो। राग-द्वेष रूपी मल को हटाओ। तप द्वारा शुक्लध्यान के प्रभात्र से निद्रा-विकथा आदि प्रमाद से वर्जित होते हुए सर्वप्रधान केवलज्ञान प्राप्त करो। देव आदि कृत उपद्रव रूप उपसर्ग के भय से मुक्त रहो। श्रुत-चारित्र रूप धर्म साधन में किसी प्रकार का विघ्न न आए।'—इस प्रकार पुनः-पुनः कहते हुए मंगलमय जय-जय शब्द करने का उल्लेख ज्ञातधर्मकथा में है।[26]

चूंकि मल्ली का अभिनिष्क्रमण भावी तीर्थंकर का अभिनिष्क्रमण था। उन्हें आगे जाकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करना था। इसीलिए लोकांतिक देवों ने अपने आचार के अनुसार वहां आकर मल्ली का वर्धापन किया। इष्ट-कांत-वाणी से उन्होंने कहा—'हे लोक के नाथ! हे भगवन! बोध पाओ। धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करो। वह धर्मतीर्थ जीवों के लिए हितकारी, सुखकारी और निःश्रेयसकारी होगा।'[27]—यह एक तरह से मल्ली के दीक्षा ग्रहण के संकल्प की अनुमोदना, प्रमोद भावना है। इस प्रकार आशीर्वाद,

शुभकामनामय योगक्षेम का मंगल भाव सबके साथ जुड़ा हुआ था।

देशाटन के समय की जाने वाली शुभ भावनाएं

व्यापार के लिए देशाटन की परंपरा प्रारंभ से रही है। व्यापार के लिए जाने वाले यात्रियों के प्रति न केवल परिवार, अपितु पूरे समूह की शुभ भावनाएं जुड़ी रहती हैं। सामूहिक रूप से लोग यात्रा को प्रस्थान करते थे। इसीलिए कुछ अंशों में सबकी कुशलता साथ-साथ चलती थी। समष्टिगत चेतना से जुड़ी मंगल भावनाएं अधिक शक्तिशाली होती हैं। प्रस्थान करते व्यापारियों के प्रति निर्लिप्त शुभेच्छा व आशीर्वाद से जुड़ी भावनाएं ज्ञातधर्मकथा में इस प्रकार अभिव्यक्त हुई हैं—'हे आर्य! हे तात! हे भ्रात!... आप लोग इस विशाल समुद्र से बार-बार सुरक्षित होते हुए चिरकाल तक जीवित रहें। आप सब का कल्याण हो। हम लोग लाभ से युक्त सभी कार्यों को संपादित करने वाले, बिना किसी शारीरिक बाधा के, धन और परिवारों से परिपूर्ण हुए आप सबको घर पर शीघ्र आया हुआ देखें।' धन्य सार्थवाह, माकंदीपुत्र[28] आदि ने व्यापारार्थ प्रस्थान किया। मित्र-परिजनों ने भी निर्विघ्न व मंगलकारी यात्रा के लिए शुभकामना की।[29]

किसी भी कार्य के पीछे शुभ संकल्प का भी अपना महत्त्व होता है—'मैं ही जीतूंगा, पद्मनाथ नहीं।'—इस संकल्प के साथ श्रीकृष्ण का युद्ध में संलग्न होना भी शुभ भाव के साथ शुभ कार्य में संलग्नता को सूचित करता है।[30] किसी भी कार्य में बड़ों का समर्थन या आज्ञा मिल जाना भी कार्य में शुभ संवाहक होता है। समुद्र यात्रा से पूर्व अर्हन्नक ने मित्र, ज्ञातिजनों से समर्थन प्राप्त किया। नंद मणिकार ने राजा की आज्ञा से तालाब आदि का निर्माण कार्य प्रारंभ किया।[31] व्रत या महाव्रत स्वीकार करने की भावना के संदर्भ में भी महावीर का कथन—**जहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंध करेहि।** जैसे तुम्हें सुख हो, विलंब न करो—स्वीकृति सूचक आशीर्वाद हैं।[32]

राज्याभिषेक के समय भी शुभकामना करते हुए कहा गया—'तुम न जीते हुए शत्रु पक्ष को जीतो, जीते हुए मित्र पक्ष का पालन करो। आचारवान के मध्य निवास करो। भरत चक्री की तरह आधिपत्य करते हुए विचरण करो'—मेघ के राज्याभिषेक के समय श्रेणिक ने यही कामना की।[33]

इस प्रकार ज्ञातधर्मकथा में संस्कृति के एक पक्ष विश्वास व मान्यताओं के विविध रूप सामने आते हैं—जो मनोविज्ञान, वास्तुशास्त्र आदि दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। ❖

संदर्भ

1. ज्ञातधर्मकथा, अंगसुत्ताणी, भाग-3 : जैन विश्व भारती, लाडनूं (1992)
2. ज्ञातधर्मकथा 1.8.28-29
3. ज्ञातधर्मकथा 1.1.159
4. ज्ञातधर्मकथा 1.1.67, 1.5.13, 1.16.279
5. ज्ञातधर्मकथा 1.8.29
6. ज्ञातधर्मकथा 1.8.29
7. ज्ञातधर्मकथा 1.5.10
8. ज्ञातधर्मकथा 1.8.217
9. ज्ञातधर्मकथा 1.8.225
10. ज्ञातधर्मकथा 1.8.46
11. ज्ञातधर्मकथा 1.9.34
12. ज्ञातधर्मकथा 1.1.2, 1.2.3
13. ज्ञातधर्मकथा 1.14.54
14. ज्ञातधर्मकथा 1.13.15
15. ज्ञातधर्मकथा 1.1.131
16. ज्ञातधर्मकथा 1.1.206
17. ज्ञातधर्मकथा 1.8.94
18. ज्ञातधर्मकथा 1.8.208
19. ज्ञातधर्मकथा 1.1.17
20. ज्ञातधर्मकथा 1.2.28
21. नायाधम्मकहाओ, वृत्तिपत्र 26; अभयदेवसूरी : श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, मुंबई (1952)
22. ज्ञातधर्मकथा 1.14.43, 1.16.97
23. ज्ञातधर्मकथा 1.1.128
24. ज्ञातधर्मकथा 1.9.6
25. ज्ञातधर्मकथा 1.1.143, 1.5.28, 1.16.315, 1.19.11, 1.14.53
26. ज्ञातधर्मकथा 1.1.143
27. ज्ञातधर्मकथा 1.8.203
28. ज्ञातधर्मकथा 1.8.67, 1.15.11, 1.9.8
29. ज्ञातधर्मकथा 1.8.68
30. ज्ञातधर्मकथा 1.16.256
31. ज्ञातधर्मकथा 1.13.15
32. ज्ञातधर्मकथा 1.1.101
33. ज्ञातधर्मकथा 1.1.119

❖❖

महावीर वाणी में परम-विजय की व्याख्या की गई है। कहा गया है—जो निज आत्मा को जीत लेता है, परम-विजय उसकी ही कहलाती है। स्वयं प्रभु की भाषा में—जो सहस्सं सहस्साणं। विश्व-विजयी सिकंदर का समर्थन करने वाले बहुत हो सकते हैं, फिर भी उसे परम-विजयी नहीं कहा जा सकता। जहां हिंसाएं होती हैं, खून की नदियां बहती हैं, जहां मानवता पैरों में ठोकरें खाती हैं, क्रंदन करती हैं, जहां भय का वीभत्स रूप प्रस्तुत होता है, वहां प्राण-प्राण अशांति का कारण बनता है। ऐसी विजय किस काम की? अतः विश्व-विजय से बेहतर है—परम-विजय का वरण। परम-विजय आत्मजयी ही पा सकता है। दूसरों के साथ युद्ध करना आसान है, जबकि स्वयं के साथ यह करना दुस्तर है। अपनी मानसिक चंचलता, भावात्मक चंचलता, अपनी इंद्रियों को जीतना बड़ा कठिन है। यह आत्मना युद्ध है और इससे ही परम-विजय को उपलब्ध हुआ जा सकता है। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने नर-संहार के स्थान पर नर-निर्माण किया, अपना व अन्यों का अंतर-परिष्कार किया—वे ही परम-विजयी कहे जा सकते हैं। ऐसे महापुरुष इसीलिए अरिहंत कहलाए कि उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं का शमन कर दिया। अपने कर्मों का संहार करने वाला ही अनुत्तर गति को प्राप्त करता है।

युद्ध : परम-विजय के लिए

साध्वी जगवत्सला

कन्या-भ्रूणहत्या, आत्महत्या, परहत्या, काया-माया को लेकर तथा विषय-कषाय के तेज ज्वर में होने वाली अनेक घटनाएं, बलात्कार और यौन हिंसाएं, रास्ते चलते गला घोंटने की वारदातें, आए दिन होने वाले वाहन-सड़क हादसों में न जाने कितनी जानें चली जाती होंगी। ये घटनाएं बताती हैं कि मनुष्य और मनुष्य के बीच में प्रेम अथवा सौहार्द के लिए बहुत कम जगह बची है, अपितु मनुष्य अधिकांशतः पांवों के बीच आने वाले एक रोड़े या पत्थर अथवा तिनके की मानिंद माना जा रहा है। इन घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज सब ओर एक आंतरिक युद्ध-सा छिड़ा हुआ है। कभी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही युद्ध हुआ करता था, पर आज तो हर दिन ही युद्ध हो रहा है।

हम देखते हैं कि घरों में रसोई के चूल्हे के स्थान पर मौत की भट्टियां आग उगलने लगी हैं। चूल्हा कुछ व्यक्तियों का खाना बनाने के लिए ठीक माना जाता है। यही नहीं, जब बिरादरी के बीच कोई विवाद बल पकड़ता है तो कितनों की आत्मा उसमें जल उठती है। बाप बेटे को और बेटा बाप को कुछ नहीं समझता। अध्यापक विद्यार्थी को और विद्यार्थी अध्यापक को मारने को, अपमानित करने को उतारू हो जाता है। यहां तक कि पति-पत्नी भी सहचारी न होकर एक-दूसरे के द्रोही होते जा रहे हैं। संबंधों में खटास इतनी उग्र हो जाती है कि आए दिन अपराधियों की सूची बड़ी होने लगी है।

देश में बढ़ते अपराध और आतंक से सब बेचैन हैं।

परिस्थितियों के ऐसे काले मेघ जब-जब मंडराते हैं, तब-तब युद्ध की-सी स्थितियां सामने आ जाती हैं। इनसे मुक्त होने के लिए हमारे सामने है—महावीर की अहिंसा, बुद्ध की करुणा, ईसा का भ्रातृभाव, मोहम्मद साहब की प्रेम भावना और श्रीकृष्ण का कर्मयोग। ये सब हमारे जीवन में आदर भरा स्थान रखते हैं। इन पर आचरण से दूसरों के विरुद्ध युद्ध कभी होगा ही नहीं, अपितु वैमनस्य की जगह सौमनस्य जाग्रत हो जाएगा। इनके बताए मार्ग पर चलने से अपना-पराया जैसा भेद रहेगा ही नहीं, बल्कि संपूर्ण मानव जाति अपनत्व के एक सूत्र से अनुस्यूत हो जाएगी।

युद्ध करना धर्म है, अधर्म नहीं। पर, कैसा युद्ध? आत्मा से आत्मा का युद्ध करने से कर्म-निर्जरा होती है। ऐसा युद्ध पापकारी प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती। धर्म का एक अर्थ होता है—कर्तव्य और फर्ज। फर्ज निभाना धर्म है। फर्जदार कभी कर्जदार नहीं होता। अतः दूसरों के साथ नहीं, अपने-आप के साथ युद्ध करें। सांख्य दर्शन में एक सूक्त आता है—**आत्मना युद्धस्व।** आगमवाणी में भी—**अप्पाणं जुज्झाहि**—कहा गया है। यह भी कहा है—**मेत्तिं मे सव्व भूएसु**—सब प्राणियों से मेरी मैत्री है। **वेरं मज्झण केणई**—किसी से वैर नहीं। यहां दो शब्द मुख्य हैं—मैत्री व वैर। जब किसी से वैर नहीं होगा, तो उसकी निष्पत्ति मैत्री ही होगी। सबके साथ मैत्री स्थापित करने वाला किसी से वैर-भाव नहीं रख सकता। इसी तरह यह भी कहा गया है—**एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस**—जो एक को जीत लेता है, वह पांच को और जो पांच को जीतता, वह दस को भी जीत लेता है। तात्पर्य यह कि एक आत्मा को जीतने वाला पांच इंद्रियों को जीत लेता है और पांच इंद्रियों को जीतने वाला दस, अर्थात्—पांच कर्मेंद्रियों और पांच ज्ञानेंद्रियों को जीत लेता है।

महावीर वाणी में परम-विजय की व्याख्या की गई है। कहा गया है—जो निज आत्मा को जीत लेता है, परम-विजय उसकी ही कहलाती है। स्वयं प्रभु की भाषा में—**जो सहस्सं सहस्साणं।** विश्व-विजयी सिकंदर का समर्थन करने वाले बहुत हो सकते हैं, फिर भी उसे परम-विजयी नहीं कहा जा सकता। जहां हिंसाएं होती हैं, खून की नदियां बहती हैं, जहां मानवता पैरों में ठोकरें खाती हैं, क्रंदन करती हैं, जहां भय का वीभत्स रूप प्रस्तुत होता है, वहां प्राण-प्राण अशांति का कारण बनता है। ऐसी विजय किस काम की? अतः विश्व-विजय से बेहतर है—परम-विजय का वरण। परम-विजय आत्मजयी ही पा सकता है। दूसरों के साथ युद्ध करना आसान है, जबकि स्वयं के साथ यह करना दुस्तर है। अपनी मानसिक चंचलता, भावात्मक चंचलता, अपनी इंद्रियों को जीतना बड़ा कठिन है। यह आत्मना युद्ध है और इससे ही परम-विजय को उपलब्ध हुआ जा सकता है। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने नर-संहार के स्थान पर नर-निर्माण किया, अपना व अन्यों का अंतर-परिष्कार किया—वे ही परम-विजयी कहे जा सकते हैं। ऐसे महापुरुष इसीलिए अरिहंत कहलाए कि उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं का शमन कर दिया। अपने कर्मों का संहार करने वाला ही अनुत्तर गति को प्राप्त करता है।

आचार्यश्री भिक्षु ऐसे ही एक योद्धा थे। उन्होंने बाहर के समरांगण में युद्ध नहीं किया। जहां दूसरों की हिंसा होती हो, नर-संहार हो, रक्त की नदियां बह रही हों—वैसा युद्ध उन्होंने नहीं किया। अहिंसक योद्धा वैसा युद्ध नहीं कर सकता। आचार्यश्री भिक्षु ने अपने जीवन को ही समरांगण माना। उस जीवन संग्राम में वे असंयम के विरुद्ध लड़ते रहे और इस क्षेत्र में उन्होंने अकल्पित विजय हासिल की। जीवन के अंतिम क्षण तक उनका ऐसा संग्राम चलता रहा। अपने विभावों से, प्रकृति जनित या मनुष्य जनित उपद्रवों, परीषहों से वे संयमपूर्वक जूझते रहे। वे लोह पुरुष थे। अतः प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति से उन्होंने संयमपूर्वक लोहा लिया। उस व्रज-संकल्पी, क्रांतिकारी योद्धा को कभी विफलता, पराजय का मुंह नहीं देखना पड़ा। उस अपराजेय व्यक्तित्व की संपूर्ण जीवन-गाथा क्रांति की कथा है, गौरवपूर्ण गाथा है। इस महापुरुष ने अपने विरुद्ध ही युद्ध किया, अपने कषायों के विरुद्ध युद्ध।

यही सच्चा युद्ध है और यही परम-विजय है। ❖

श्रुति कहती है कि, 'ईश्वर एक है, किंतु भक्त लोग अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अलग-अलग नाम-रूप से उसकी उपासना करते हैं।' यह सनातन सत्य जिन लोगों ने पाया, उन पर यह जिम्मेदारी आ पड़ी है कि वे अपने जीवन में सर्व-धर्म समभाव और विश्व-बंधुत्व का विकास करें।

—नारायण मोरेश्वर खरे

बालकथा

वह पछता रहा था और मन ही मन सोच रहा था कि यह सारा झूठ बोलने का परिणाम है। अपने मन में उसने निश्चय किया कि अब से मैं कभी झूठ नहीं बोलूंगा। रवि ने अपने मन की बात उस व्यक्ति को भी बता दी। पर, वह व्यक्ति भी निरा शातिर निकला। उसने कहा—'भोले बच्चे! तुम्हें झूठ बोलना आया ही नहीं, ...मैं तुम्हें सिखाऊंगा कि झूठ कैसे बोलना चाहिए। झूठ बोलना भी कला है। चलो मेरे साथ।'

रवि को लगा वह उलटा फंस गया है। वह किसी तरह उससे बचना चाहता था। किसी तरह आंखें बचा रवि इधर-उधर हो गया। तभी उसे एक साधु का आश्रम नजर आया। वह उसमें जा घुसा और छिप गया। वहां महात्मा का प्रवचन चल रहा था। घबराए रवि के कानों में महात्मा के कहे शब्द पड़ने लगे। धीरे-धीरे उसका साहस भी लौटने लगा। प्रवचन सुनने वालों के बीच पहुंच रवि उनमें ही कहीं बैठ गया।

संसार संगति का

समणी आगमप्रज्ञा

पांच वर्ष का रवि गांव का एक भोला-भाला मासूम निर्धन बालक है। खेतों में घूमना, पशु-पक्षियों के बीच रहना, शाम को प्रतिदिन मां के साथ मंदिर जाना, गलियों में बच्चों के साथ खेलना और बाकी समय में मां की परिक्रमा करते रहना—बस, यही काम है रवि का।

इसी क्रम में एक दिन सुबह-सुबह मां का हाथ पकड़े वह मंदिर जा रहा था कि अचानक उसकी नजर बच्चों की एक कतार पर पड़ी। पीठ पर थैला लादे सभी बच्चे एक ही पहनावे में और एक ही दिशा की ओर बढ़ रहे थे। वह मां का हाथ छुड़ा उनके पीछे-पीछे गया। सभी बच्चे एक बड़े दरवाजे के अंदर चले गए, पर दरबान ने उसे बाहर ही रोक दिया। चाहता था कि वह भी अंदर जाए और देखे कि वे सब अंदर क्या कर रहे हैं। भीतर घंटियां और गीत आदि सुनाई दे रहे थे। यह सब क्या हैं?

घर जाकर रवि ने मां से पूछा, किंतु मां कुछ बोली नहीं। वह मौन रही। सोचा कि शाम को खेलने जाऊंगा तब दोस्तों से पूछूंगा। शाम हुई। खेलने गया। आज खेलने का मन नहीं था—रवि का। उसके मन में प्रश्नों का ज्वार उमड़ रहा था। दोस्त मनन को अपने पास बुलाया और पूछा—'आज सुबह तुम कहां गए थे? तुम्हारी पीठ पर थैला झूल रहा था, उसमें क्या था?' मनन ने बताया—'हम स्कूल गए थे।'

—'स्कूल?'

—'हां! स्कूल पढ़ने के लिए।'

—'तो वहां फिर मंदिरों की सी घंटियां क्यूं बज रही थी?'

—'वहां सुबह-सुबह प्रार्थना होती है। उसके बाद हम कक्षा में जाते हैं और पढ़ते हैं।'—रवि ने मनन से कहा—'मुझे भी पढ़ना है। क्या मैं भी पढ़ सकता हूं!'
—'हां, तुम भी अपनी मां से कह दो। वह तुम्हारा दाखिला करवा देगी। फिर तुम भी पढ़ सकते हो।'
—'अच्छा।'—रवि तेजी से वहां से भागता है। घर पहुंचता है और मां की गोद में मुंह डालते हुए कहता है—'मां! मां!! मुझे पढ़ना है। मुझे भी स्कूल जाना है।'—मंद स्वरों में मां बोली—'बेटा! मेरे पास इतने पैसे नहीं कि तुझे पढ़ा सकूं।'—कहते-कहते मां की आंखों में आंसू आ गए। रवि से यह न देखा गया।

—'मां! (मां के आंसू पोंछता हुआ) रोओ मत मां। मैं तुम्हारी आंखों में आंसू नहीं देख सकता। ठीक है! मैं नहीं पढूंगा।'—रवि ने यह कह तो दिया, पर भीतर में पढ़ने की तड़प ऐसी जगी कि मां को बिना बताए वह रोज सुबह स्कूल जाने लगा। वहां आने वाले बच्चों को स्कूल से बाहर खड़ा देखता रहता।

एक दिन एक अध्यापक की नजर उस पर पड़ी। सोचा, यह लड़का रोज यहां आता है, आखिर बात क्या है? वह उसके पास गया। पूछा—'तुम कौन हो? रोज यहां क्या करने आते हो?'

—'मैं रवि हूं। मुझे भी पढ़ना है, पर···मां के पास पैसे नहीं हैं।'—रवि मायूस हो जाता है। आंखें नीचे झुक जाती हैं। अध्यापक का दिल पसीज गया। उन्होंने कहा—'तुम मेरे घर आना। मैं तुम्हें पढ़ाऊंगा।'

रवि को घर का पता बता अध्यापक आगे चल देता है। पर, रवि के लिए पढ़ने का रास्ता खुल जाता है। रवि अब प्रायः शाम को खेलना छोड़ कर पढ़ने जाता है। कुछ ही दिनों में पता चलता है कि वह दिमाग से सभी बच्चों में तेज है। जो बच्चे छः महीने में सीख पाते हैं, वह दो महीनों में ही सीख गया। वह भी बिना स्कूल गए। उसने एक वर्ष में दूसरी कक्षा की पढ़ाई पूरी कर ली। उसका अध्यापक भी रवि पर प्रसन्न रहने लगा।

भाग्य का उदय हुआ। रवि के चाचा कलकत्ता से आए। चाचा से बात की। चाचा रवि को कलकत्ता साथ ले जाने के लिए तैयार हो गए। मन में पढ़ाई की ललक। रवि खुशी-खुशी कलकत्ता जाने के लिए तैयार हो गया।

वह कलकत्ता पहुंचा। नया-नया माहौल। झोंपड़ियों के बदले बहु-मंजिले मकान। सड़कों पर गाय-बकरियों के बदले सरपट भागते वाहन। चाचा ने अच्छी स्कूल में दाखिला करवाया।

शुरू-शुरू में यहां सबकुछ पराया-सा लगता रहा। मां, अध्यापक और गांव के दोस्तों की याद सताती। पर, कुछ ही दिनों में वहां भी रवि के मित्र बनने लगे। रवि अच्छे से, मन लगाकर पढ़ने लगा। अध्यापक जो भी गृहकार्य देते, वह पूरा करके लाता। यही सिलसिला चलता रहा। पर, उसने देखा कि उसके दूसरे सहपाठी गृह-कार्य करके नहीं लाने पर भी अध्यापक के पूछने पर कह देते कि हां, मैं करके लाया हूं और अध्यापक बिना कुछ भी देखे उसे छोड़ देते। यह क्रम चलता रहा।

रवि भी यह सब देखता रहा। उन सहपाठियों से उसकी दोस्ती बढ़ने लगी। इस संगति के असर में वह भी ऐसा ही सीखने लगा। रवि को लगा कि गृह-कार्य न करने और झूठ बोलने से यदि काम चल सकता है, तो फिर मैं भी गृह-कार्य क्यूं करूं? क्यूं इतनी मेहनत करूं? एक झूठ बोला और काम बना।

जो बालक मेहनत और अंदर की तड़प से इतना आगे बढ़ गया था, उसी के जीवन का काला पृष्ठ लिखा जाना शुरू हो गया। गलत संगति मात्र से उसके चरण बुराई के दलदल में फंसने लगे।

कक्षा में जब रवि से गृह-कार्य के लिए पूछा जाता तो वह भी झूठ ही कह देता—'करके लाया हूं।' ऐसा बराबर होता रहा। अब रवि झूठ बोलना सीख गया। अब वह कक्षा में ही नहीं, अन्यत्र भी झूठ बोलने लगा।

झूठ बोलने का उसका साहस बढ़ता गया। अब घर पर भी झूठ बोलने लगा।

एक दिन चाचा से कहा—'स्कूल में अध्यापक ने एक सौ रुपये मंगवाए हैं।'—चाचा के कारण पूछने पर कहा—'कुछ पुस्तकें लानी हैं।'—झूठ बोल कर उसने एक सौ रुपये ले लिए। उसके मन में खुशी का ठिकाना नहीं रहा। स्कूल पहुंचा, वहीं से दोस्तों के साथ मौज-मस्ती शुरू हो गई। हम-उम्र संगत और हाथ में पैसा—इन सबका रवि पर असर हुए बिना नहीं रहा।

पर, संयोग कि किसी रोज चाचा ने अचानक रवि को देख लिया। रवि ने भी चाचा को देख लिया था। रवि की सांसें फूलने लगीं। जो चाचा पढ़ाने के लिए गांव से यहां लाए, अब उसी चाचा को मुंह कैसे दिखाए। घर जाने का साहस भी उसमें नहीं रहा। चाचा से आंख छिपा वह गायब हो गया। पर, कहां जाए। वह इधर-उधर घूम रहा था कि उसे एक व्यक्ति मिला। उसने रवि से पूछा—'तुम कौन हो? कहां जा रहे हो?'—एक-दो बार पूछने पर रवि ने आपबीती सुनाई।

वह पछता रहा था और मन ही मन सोच रहा था कि यह सारा झूठ बोलने का परिणाम है। अपने मन में उसने निश्चय किया कि अब से मैं कभी झूठ नहीं बोलूंगा। रवि ने अपने मन की बात उस व्यक्ति को भी बता दी। पर, वह व्यक्ति भी निरा शातिर निकला। उसने कहा—'भोले बच्चे! तुम्हें झूठ बोलना आया ही नहीं, ·····मैं तुम्हें सिखाऊंगा कि झूठ कैसे बोलना चाहिए। झूठ बोलना भी कला है। चलो मेरे साथ।'

रवि को लगा वह उलटा फंस गया है। वह किसी तरह उससे बचना चाहता था। किसी तरह आंखें बचा रवि इधर-उधर हो गया। तभी उसे एक साधु का आश्रम नजर आया। वह उसमें जा घुसा और छिप गया। वहां महात्मा का प्रवचन चल रहा था। घबराए रवि के कानों में महात्मा के कहे शब्द पड़ने लगे। धीरे-धीरे उसका साहस भी लौटने लगा। प्रवचन सुनने वालों के बीच पहुंच रवि उनमें ही कहीं बैठ गया।

—'सत्य वचन ही पावन है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका सभी विश्वास करते हैं। सत्य वचन विपत्तियों का नाश करने वाला है। मुक्ति का पथ है। जल हो, आग हो या कोई दूसरे उपद्रव, सब को शांत कर देता है सत्य वचन। झूठ बोलने से हो सकता है कि एक बार कुछ प्राप्त हो जाए, किंतु उसके परिणाम बुरे ही निकलते हैं।'

बात रवि के समझ में आने लगी। वह दत्त-चित्त सुनने लगा। महात्माजी आगे बोले—'जो व्यक्ति झूठ वचन बोलता है, वह पशु योनि को प्राप्त करता है। सत्य वचन का ही प्रभाव था कि राजा हरिश्चंद्र का नाम इतिहास में लिखा गया। अपने वचनों के लिए उन्होंने राज-पाट ही छोड़ दिया।' महात्मा के वचन रवि के कानों के माध्यम से हृदय पर असर करने लगे।

संकल्प का एक सूर्य आखिरकार चमकने लगा—'मुझे भी हरिश्चंद्र बनना है। मुझे भी सत्यवादी बनना है। मां के उपकारों का कर्जा तभी चुका सकूंगा।'—और सत्य के प्रकाश में उसके पैर एक नई दिशा में बढ़ने लगे। वह महात्मा की शरण में चला गया। उसे लगा कि अब सारा संसार उसका स्वागत कर रहा है। ❖

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।

सरदी–गरमी और सुख–दुखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अंतःकरण की वृत्तियां भली–भांति शांत हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानंदघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

—श्रीमद्भगवद्गीता 6/7

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments

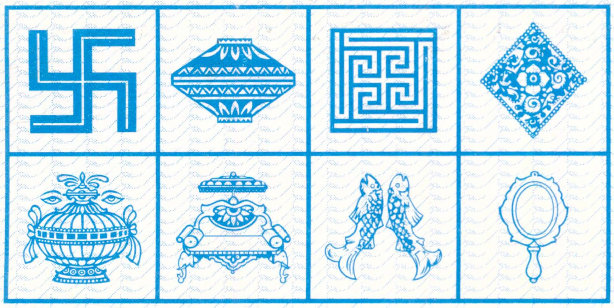

Witness the final statement in designer marble
Experience the magical union of the traditional and the modern tiles
All new Granite & Sanitary

Baid Marble & Tiles

Stockyard-1 Prince Anwar Shah Road, Kolkata
Stockyard-2 Kamalgachi, Narendrapur, Garia
Stockyard-3 N.S.C. Bose Road, Pratapgarh, Garia

Corporate Office :
53, Radha Bazar Lane, KOLKATA-1
TEL No. 033 2435 3286

जैन भारती, दिसंबर, 2009
प्रेषण दिनांक 28 नवंबर, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।